

पार्श्वनाथ विद्यापीठ प्रन्थमाला : १०१

प्रधान सम्पादक
प्रो०सागरमल जैन

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन

(मूल, संस्कृत छाया व हिन्दी अनु० सहित)

लेखन, अनुवाद एवं सम्पादन

डॉ० अशोक कुमार सिंह

वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

प्रकाशकीय

सम्पादन, अनुवाद/प्रकाशन को दृष्टि से जैन आगम ग्रन्थों (प्रकीर्णकों को छोड़कर) पर बहुत अधिक कार्य हुआ है। आज आगमग्रन्थों के बहुत से प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं। गुजराती या हिन्दी, अनुवाद के साथ विवरणात्मक टिप्पणी आदि देकर एक-एक आगम ग्रन्थ के अनेक संस्करण मिलते हैं। कुछ आगम ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। परन्तु आगमों के प्राचीन व्याख्या साहित्य—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, तथा दृशि के अनुवाद की स्थिति दीर्घ इसके विपरीत है। कुछ अपवादों को छोड़कर इस दिशा में नहीं के बगाबर कार्य हुआ है। आगमिक व्याख्या साहित्य में प्रतिपादित तथ्यों की सुलभता के लिए इनका अनुवाद सहित प्रकाशन बहुत जरूरी है।

जैन विद्या के अध्ययन शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में पिछले ६० वर्षों से कार्यरत काठ्हिंविंविं द्वारा शोध हेतु मान्यता प्राप्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने प्राकृत एवं संस्कृत के जैन ग्रन्थों का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन आरम्भ किया है। फलस्वरूप वज्जालग्रन्थ, गाथासप्तशती, पञ्चाशकप्रकरणम् आदि प्राकृत ग्रन्थों एवं जैनमेघदूतम्, नेमिदूतम्, नलविलासनाटकम्, निर्भयभीमव्यायोगम् आदि संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए।

इसी क्रम में छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वारा निबद्ध दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद (अध्ययन सहित) प्रस्तुत है। विद्यापीठ की समस्त गतिविधियों के केन्द्र एवं प्रेरणाक्रोत निदेशक प्रो० सायरमल जैन हैं, अतः हम उनके आभारी हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद, सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह ने किया इसलिए हम उन्हें साधुवाद देते हैं।

प्रकाशन व्यवस्था के लिए विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

उत्कृष्ट कम्पोजिंग के लिए श्री अजय कुमार चौहान, सरिता कम्प्यूटर्स एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए रत्ना प्रिण्टिंग वर्क्स, वाराणसी के भी हम आभारी हैं।

पूर्णद्वनाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

		१	२		
१७.	५५	१८	८	"	देही
		१०	७		
१८.	४८	१२	६	"	"
		९	९		
१९.	५२	१३	६	६०	उद्गाथा
		८	१२		
२०.	५३	१०	१०	५७	चूर्णी
		८	११		
२१.	५६	१०	१०	"	देही
		११	५		
२२.	६१	१२	६	"	विषा
		११	५		
२३.	६२	१३	४	"	देही
		८	११		
२४.	६४	१०	१०	"	आमी
		९	९		
२५.	७२	११	८	"	क्षमा
		११	५		
२६.	७७	१२	६	"	विषा
		११	५		
२७.	८७	९	१२	"	छाया
		८	११		
२८.	८८	१०	१०	"	देही
		११	५		
२९.	९१	११	८	"	गौरी
		९	९		
३०.	९३	९	१२	"	कान्ति
		७	२३		

विषयानुक्रमणिका

क्रम संख्या		पृ.स.
प्रावक्तव्यन	:	i-ix
	के डॉ० अशोक कुमार सिंह	
भूमिका	:	१-३४
	नियुक्ति साहित्य : एक पुनर्जीवन	
	के प्रोफेसर सागरमल जैन	
प्रथम अध्याय	:	३५-६०
	छेदसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध आगम ग्रन्थ ३५, आगम प्रणाली ३६, छेद-- शब्द-व्युत्पत्ति ३७, उत्तमता ३८, नामकरण ३९, छेदसूत्र संख्या ४०, सामान्य विषय-वस्तु ४१, दशाश्रुतस्कन्ध : परिचय - कालिक ग्रन्थ ४१, रचना-प्रकृति ४२, रचनाकाल ४२, विवेद ४२, सोत ४३, विषय-वस्तु ४३, विषय-वस्तु महत्त्व ५१, दशाओं का पौर्वार्पण एवं सामजिक्य ५२, व्याख्या साहित्य ५३, प्रकाशन ५४, कल्पसूत्र - व्याख्या साहित्य ५५, प्रकाशन ५६।	
द्वितीय अध्याय	:	६१-८९
	नियुक्ति-संरचना और दशाश्रुतस्कन्धनियुक्ति नियुक्ति-संरचना ६१, निषेप सिद्धान्त और नियुक्ति साहित्य ६२, दशाश्रुतस्कन्ध नियुक्ति संरचना ६८, प्रतिपाद्य ६८।	
तृतीय अध्याय	:	८०-११८
	छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्ध नियुक्ति : पाठ निर्धारण समान्तर गाथायें ९९।	
चतुर्थ अध्याय	:	११९-१४८
	दशाश्रुतस्कन्ध नियुक्ति में हिक्कित दृष्टान्त १. अधिकरण सम्बन्धी द्विरक्तक दृष्टान्त १२०, २. चम्पाकुमार नन्दी या अनङ्गसेन दृष्टान्त १२२, ३. भूत्य द्रमक दृष्टान्त १३८, ४. क्रोध कषाय विषयक मरक दृष्टान्त १४०, ५. मानकषाय	

विषयक अत्यहङ्कारिणी भट्टाद्वान्त १४१.	
६. माया कषाय विषयक पाण्डुरायी दृष्टान्त १४४.	
७. लोभ कषाय विषयक आर्यमङ्ग दृष्टान्त १४६।	
उपसंहार :	१४१-१५२
प्राकृतमूल-संस्कृत छाया-हिन्दी अनुवाद	१५३-१९१
गाथानुक्रमणिका :	१९२-१९६
शब्दानुक्रमणिका :	१९७-२०९
सन्दर्भपन्थसूची :	२१०-२१४



साध्वी समणी कुसुमप्रज्ञा, (लाइनू) ने इस निर्युक्ति का सम्पादन किया है परन्तु अभी वह प्रकाशित नहीं है। व्यवहारभाष्य (लाइनू १९९६) में प्राप्त प्रयुक्त प्रन्थों की सूची से सूचना मिलती है कि उन्होंने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराङ्ग और सूत्रकसाङ्गनिर्युक्ति भी सम्पादित किया है परन्तु इनका प्रकाशन नहीं हुआ है।

निर्युक्ति साहित्य पर अद्यावधि किये गये कुछ प्रमुख कार्यों, शोधलेखों और निबन्धों का विवरण इस प्रकार है— प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् Ernst Leuman की कृति *Dasvaikālika Sutra und niryukti auf ihren erzählungsgeschichtlichkeit untersucht und herausgegeben*, Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft 46, 1892, *Ueber die Āvaśyaka Literature* Leide 1895, *Die Āvaśyaka - Einzähilungen* Leipzig 1907, युवा ऐन लिङ्ग्ली मुश्ती नलिनी बलवीर का *Āvaśyaka Studien*; Bd 1, Stuttgart 1993, जर्मन विद्वान् B. Bolee का दो भागों में क्रमशः १९७७ और १९८८ में *Studien Zum Suyagad*, Wiesbaden तथा '*Materials for an edition and study of the Pinda and Ogha Nijjutties of the Svetambara tradition*' Stuttgart दो भागों में १९९१ और १९९४ उपलब्ध होते हैं।

निर्युक्ति पर प्राप्त लेखों में ए०ए० धाटगे के अंग्रेजी में प्रकाशित दो लेख क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति और सूत्रकसाङ्गनिर्युक्ति पर 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' के ग्यारहवें (१९३५) और बारहवें (१९३६) खण्ड में, मुनि पुण्यविजय जी का 'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार', महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, बम्बई, १९४१, B.Bolee का *Khuddaga - Niyantijjam : an epitome of the Jaina doctrine* (Uttarajjhaya, 6), Journal of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1971, Ludwig Alsdorf का *Jaina Exegetical Literature and the History of Jaina canon*, Dr. A.N. Upadhye, Vol. 1977, आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैनागम व्याख्या साहित्य, जिनवाणी, वर्ष ३५, अङ्क १९७८, अगरचन्द नाहटा, निर्युक्तियों के रचनाकाल पर पुनर्विचार आवश्यक, अमरभारती, वर्ष १६, अङ्क ४, १९७९, आदि उल्लेखनीय हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित बी०के०खडबडी, *Reflections on the Jaina exegetical literature; Aspects of Jainology*, Vol. 3, 1991, और डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, *निर्युक्ति साहित्य : एक परिचय*, ऐस्पेक्ट्स ऑफ जैनालजी खण्ड ५, १९९५, और प्रो० सागरमल जैन, *निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्विचिन्तन*, इन्द्रदिव्यसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, विजयानन्दसूरि साहित्य प्रकाशन फाउण्डेशन, पावागढ, १९९६, भी उल्लेखित किये जा सकते हैं।

प्राक्तिकथन

जैनीन हुए वन्यों की चुरानछला ऐसे आठवां साहित्य की रचना भारतीय मन्त्रीशिखियों की प्राचीन परम्परा रही है। ग्रन्थ में प्रतिपादित गृह शब्दों के सम्बन्ध अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्याओं का अध्ययन बहुत उपयोगी ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। जैन परम्परा के अर्धमागधी आगम साहित्य पर रखी गई व्याख्याओं— विशेषतः प्राकृत भाषा में निबद्ध निर्युक्ति, भाष्य आदि साहित्य का अध्ययन, आगमों में निहित गृहार्थ को समझाने के लिए आवश्यक है। इनको सुगम बनाने के लिए इनके अनुवाद और समीक्षात्मक अध्ययन की जरूरत है।

जैनागमों का सम्पादन, अनुवाद एवं अध्ययन भारतीय और विदेशी दोनों विद्वानों द्वारा पर्याप्त संख्या में प्रकाश में आया है। आगम के अङ्ग, उपाङ्ग, मूलसूत्र छेदसूत्र और चूलिकासूत्र के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों तथा टीकाओं के अपने-अपने मूल वन्यों के साथ तथा कुछ स्वतन्त्र संस्करण भी मिलते हैं। परन्तु आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद का नगण्य प्रयास हुआ है। किसी निर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

आगमिक व्याख्या साहित्य-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण की उपेक्षा की ओर सङ्केत करते हुए स्व०बी०के०खडबडी ने सटीक टिप्पणी की है कि— “The state of knowledge of the other three classes was so poor that even scholar like Jacobi at times confounded Bhāṣya and Cūḍī, and Jatī Charpentier rather conjectured the cūḍī as mettical. The Nirvukti, the first type of exegetical literature being long ago ignored by the later Sanskrit Commentators (Tikākāra) by dropping them from their works, likewise had received scant attention in our days (*Aspects of Jainology*, Vol.III, P.V., p. 27).

इसीलिए निर्युक्ति साहित्य के अनुवाद का कार्य आरम्भ किया। इस क्रम में छेदसूत्र दशाशुतस्कन्ध पर भद्रबाहु द्वारा निबद्ध दशाशुतस्कन्धनिर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया एवं अध्ययन के साथ प्रथम प्रयास के रूप में प्रस्तुत है। सामान्य रूप से निर्युक्ति और विशेष रूप से दशाशुतस्कन्धनिर्युक्ति पर किये गये कार्यों का पूर्वावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इस निर्युक्ति पर स्वतन्त्र लेख भी नहीं प्राप्त होते हैं। इसके दो प्रकाशित संस्करण अवश्य मिलते हैं। आदरणीया

निर्युक्ति साहित्य पर पूर्व में किये गये कार्यों का विवरण देने के पश्चात् निर्युक्ति-संख्या, रचना-काल, रचना-क्रम और कर्ता पर विचार आवश्यक है। प्रोफेसर सागरमल जैन द्वारा लिखित शोधलेख 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्जीवन' इस कृति की भूमिका के रूप में दिया गया है जिसमें उन्होंने उक्त सभी बिन्दुओं पर गम्भीरता से विचार किया है। इस क्रम में उन्होंने विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों और भन्तव्यों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए अपनी मान्यता स्थापित की है। अतः इस सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अतः निर्युक्तियों के परिचय के सन्दर्भ में निर्युक्ति शब्द के व्युत्पत्यात्मक अर्थ, निर्युक्तिसंरचना-स्वरूप पर जैन ग्रन्थों, शब्दकोशों एवं जैन विद्या के मनीषियों के विवरण की समीक्षा प्रस्तुत है —

'शब्दरस्तमहोदयि' (गुजराती जैन शब्दकोश) में निर्युक्ति शब्द की व्युत्पत्ति निर्+युज्+क्ति+न् पूर्वक बतायी गई है। वहाँ इसका अर्थ अकार्यभाव, भिन्नता और भेद प्राप्त होता है (पृ. १२११)। 'पाइअसहमहण्णवो' में निर्युक्ति शब्द का अर्थ व्याख्या, विवरण और टीका उल्लिखित है (पृ. ३९६)। अर्द्धमागाढी डिक्षानदी में इस शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं— (१) सूत्र के अर्थ की विशेष रूप से युक्ति लगाकर घटना करना और (२) सूत्र के अर्थ को युक्ति दर्शाने वाला वाक्य अथवा ग्रन्थ। कोश ग्रन्थ जैन लक्षणावली में भी आवश्यकनिर्युक्ति और मूलाचार के आधार पर निर्युक्ति शब्द के दो व्युत्पत्यात्मक अर्थ सङ्खलित किये गये हैं— (१) 'नि' का अर्थ निश्चय या अधिकता है तथा 'युक्त' का अर्थ सम्बद्ध है। तदनुसार जो जीवाजीवादि तत्त्वसूत्र में निश्चय से या अधिकता से प्रथम ही सम्बद्ध है, उन निर्युक्त तत्त्वों की जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है उसे निर्युक्ति कहा जाता है। (२) निर्युक्ति में 'नि' का अर्थ निरवय या सम्पूर्ण तथा 'युक्त' का अर्थ सम्बद्ध है। तदनुसार अभीष्ट तत्त्व के उपाय को निर्युक्ति जानना चाहिए। आगमटीकाकार मलयगिरि ने इसका अर्थ 'सूत्रों की व्याख्या' किया है (भाग २, पृ. ६२३)।

निर्युक्ति की इन व्याख्याओं से असहमत डॉ० वेबर ने सुझाव दिया कि 'निर्जुति' को निरुक्ति का बिगड़ा हुआ रूप मानना चाहिए, जिसका संस्कृत रूप निरुक्ति होगा, जो वैदिक वाद्यमय में प्रसिद्ध है। लेकिन ए०एम०बाटगे ने इस सुझाव को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है। आपका अभिमत है कि निर्जुति से निरुक्ति के संक्रमण की व्याख्या नहीं की जा सकती है तथा यह सुझाव है कि निर्युक्तिकार निरुक्त और निर्युक्ति दोनों शब्दों का उल्लेख मिलता है। इसमें निरुक्त, निर्युक्ति का एक अंश बताया गया है। (इ०हि०क्वार्टरली, खण्ड ११, पृ. ६२८)

निर्युक्ति की एक व्युत्पत्ति शार्पेण्टर ने भी सुझायी है उनके अनुसार वर्तमान निर्युक्ति साहित्य आगमों की प्रथम व्याख्या नहीं है, बल्कि गद्य में प्रणीत विशालकाय आगमिक व्याख्याओं से गाथा अंश के रूप में उद्धृत है। उनकी विषय-वस्तु को संक्षिप्त करते हुए तथा उन गद्य-निबद्ध आगमिक व्याख्याओं के आधार पर ग्रन्थों का वाचन कराने वाले उपाध्यायों की स्मृति में सहायक थे। इस के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौलिक वृत्तियों से निर्युहित होने के कारण इन्हें निर्जुनित कहा जा सकता है। परन्तु यह व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि उक्त गद्यात्मक व्याख्या ग्रन्थों का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। (ईडी. बारोदारली, खण्ड ११, पृ. ६२८)

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निर्युक्ति शब्द की सर्वसम्मत व्याख्या अभी तक प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। परन्तु इतना निश्चित है कि निर्युक्ति विशुद्ध रूप से जैनों की अपनी विशिष्टता रही है और व्याख्या पद्धति के क्षेत्र में जैनों का विशिष्ट अवदान है। एल० अल्सडोर्फ का अभिमत अत्यन्त प्रासङ्गिक है—*no doubt the exclusive invention of the Jaina scholars and their most original contribution to scholastic research!* (*4 aspects of Jainology* 3, p. 28).

जहाँ तक निर्युक्ति के अवयवों या घटकों का प्रश्न है इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवयव निक्षेप रहा है। निक्षेप सिद्धान्त के द्वारा विवेच्य शब्दों का अर्थ निर्धारण इसका मुख्य प्रयोजन रहा है। स्वयं निर्युक्तिकार ने इस प्रयोजन को स्पष्ट उल्लिखित किया है— एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, उनमें से कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग में उपयुक्त है। भगवान् महावीर के उपदेशकाल में किस शब्द से कौन सा अर्थ सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखकर, सम्बूद्ध अर्थ-निर्णय तथा मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बद्ध स्थापित करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। (आ०नि०, ८८)

मूल ग्रन्थ के शीर्षक, इसके अध्ययनों के शीर्षक तथा कुछ अन्य विशिष्ट शब्दों की निक्षेप पद्धति द्वारा व्याख्या की गई है। निर्युक्ति में विवेचन के इस स्वरूप को अल्सडोर्फ ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है— *Niksepa is applied first to the title of the canonical work to be explained, if this title is a compound one, to each of its constituents, subsequently to the titles of each chapter and sub sections, lastly, perhaps to a few key words of the sutra text :* (*Journal, Baroda*, XXII, 1973.)

निर्युक्तियों में निक्षेप के अलावा कुछ विशिष्ट शब्दों का एकार्थ तथा निरुक्त—व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी बताया गया है। निर्युक्ति में दृष्टान्त कथाओं की सूची भी दी

गई है। इन चारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं चुने विषयों का प्रतिपादन भी किया गया है। निर्युक्ति साहित्य के वर्ण्य-विषय के सन्दर्भ में दशाशैकालिकनिर्युक्ति के प्रतिपाद्य के सन्दर्भ में दिया गया धाटगे का अभिमत अन्य निर्युक्तियों के विषय में भी काफी हद तक प्रासङ्गिक है— Therein, it is stated that usually the topics discussed in a Nirukti are : Nikṣepa or application (2) Nirukti or etymology; (3) Ekartha or synonyms (4) Linga or Characteristics and Pancanvaya or Pagical discussion about the various objects chosen for the purpose of comment. This list can further be supplemented with other topics as the author of the work, the cause of its writing, the people wordhy of having it and the meaning of the sutras. (I.H.Q., 11, p. 630).

इस प्रकार आगमों की व्याख्या पद्धति के रूप में प्राकृत गाथा में निबद्ध ग्रान्तीनलम कृति निर्युक्ति जैनाचार्यों की भारतीय विद्या को विशिष्ट अवदान है।

जैन धर्म में आचार-शुद्धि पर अतिशय बल दिया गया है। छेदसूत्र श्रमणाचार के विधि-निषेध परक ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुख्य रूप से इन छेदसूत्रों में श्रमणों की विविध आचार संहिताओं तथा अपवाद मार्गों का प्रतिपादन है। सामान्यतः आज इनकी संख्या ३८ मार्गी जाती है। रचना की प्रकृति की दृष्टि से कुछ छेदसूत्र निर्यूहित आगम माने जाते हैं। निर्यूहित आगम वे ग्रन्थ हैं जिनके कर्ता ज्ञात हैं और जिस ग्रन्थ के आधार पर ये निर्मित हैं अर्थात् वे स्रोत भी ज्ञात हैं। छेदसूत्र दशाशूतस्कन्ध श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रज्ञाहु (१०प०प्रथम शताब्दी) प्रणीत माना जाता है। इसे दशा, आचारदसा और दशाशूत नाम से जाना जाता है। यह नवम प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूहित है। इसका वर्गीकरण 'दसा' में किया गया है, जिनकी संख्या दस है।

मूलतः ग्रन्थ में निबद्ध इसका ग्रन्थ परिमाण १३८० ग्रन्थांश है, (जै०सा० ब०इ०, भाग १, पृ० ३४) इसमें बीच-बीच में पञ्चम और नवम दशा में क्रमशः १७ और ३९ गाथायें भी मिलती हैं। (नवसुसाणि, लाइन्स)।

जैन परम्परा यह मानती है कि वर्तमान कल्पसूत्र किसी समय इसकी आठवीं दशा रहा है। इसका ग्रन्थ-परिमाण १२५६ है। इसमें भी अधिकांश गद्य है। यत्र-तत्र प्राप्त गाथाओं की सं० २७ के आस-पास है।

इस दशाशूतस्कन्ध पर निबद्ध निर्युक्ति में १४१ गाथायें प्राप्त होती हैं (लाखाबाबल संस्करण)। मूलग्रन्थ के दशा में वर्गीकरण से पिछे निर्युक्ति का वर्गीकरण 'अध्ययन' शीर्षक में है। आज उपलब्ध निर्युक्तियों में यह लघुतम है।

आठवाँ पर्युषणाकल्प अध्ययन सबसे बड़ा (६७ गाथा) है जबकि पाँचवें चित्तसमाधि में मात्र एक गाथा है।

छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति आदि के विषय में कतिपय ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत कृति दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन का परिचय प्रस्तुत है। इसमें दो भाग हैं— प्रथम भाग में चार अध्याय और उपसंहार है, दूसरे भाग में मूल प्राकृत गाथाओं, उनकी संस्कृत छाया तथा हिन्दी अनुवाद है।

प्रथम अध्याय 'छेदसूत्रागम और दशाश्रुतस्कन्ध' में जैन आगम ग्रन्थों की सूची, छेदसूत्र के रूप में आगम वर्गीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, 'छेद' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, छेदसूत्र की उल्कृष्टता, छेदसूत्र नामकरण का कारण, उनकी संख्या और सामान्य रूप से छेदसूत्रों की विषय-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही छेदसूत्र दशाश्रुत का परिचय देते हुए इसकी रचना-प्रकृति, रचनाकार, रचनाकाल, विच्छेद तथा प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में परिचय देते हुए विषय-वस्तु के महत्व तथा दसों दशाओं के पौर्वापर्य और परस्पर सामज्ज्ञान्य पर प्रकाश डाला गया है।

इस अध्याय में ही दशाश्रुतस्कन्ध पर प्रणीत व्याख्या साहित्य, इसके प्रकाशित संस्करण तथा अष्टम दशा 'पर्युषणाकल्प' अथवा कर्त्तव्यसूत्र पर स्वतन्त्र रूप से प्रणीत व्याख्या साहित्य एवं स्वतन्त्र प्रकाशित संस्करणों का परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय 'निर्युक्ति संरचना और दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति' में निर्युक्ति के चार प्रमुख घटकों— निष्केप, एकार्थ, निरुक्त और दृष्टान्त के स्वरूप का उल्लेख करते हुए इसके प्रमुख घटक निष्केप के भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डाला गया है। शेताम्बर परम्परा के अनुयोगद्वार और दिगम्बर परम्परा के बट्टखण्डागम में निष्केप के भेद-प्रभेदों का सम्बन्धित सर्वाधिक विस्तार से उल्लेख है। अतः इन दोनों ग्रन्थों को आधार बनाकर तुलनात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। घटकों की दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति की संरचना पर प्रकाश डालने के पश्चात् इसके विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण इसके अध्ययनों के क्रम से दिया गया है।

तृतीय अध्याय 'छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : पाठ-निर्धारण' में इसकी गाथा संख्या के सन्दर्भ में प्राप्त मतभेदों की समीक्षा की गयी है। आठवें पर्युषणाकल्प अध्ययन की ६७ गाथाओं के स्थान पर निशीशसूत्राचार्य में 'इमा णिज्जुती' कहकर उद्धृत इस अध्ययन की ७२ गाथाओं की प्राप्ति के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है। पाठ-निर्धारण के क्रम में इस निर्युक्ति की गाथाओं का छन्द

की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। जो गाथायें छन्द-दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं उनमें अपेक्षित संशोधन सुझायें गये हैं। इन संशोधनों के लिए जैन वाङ्मय में अन्यत्र इस निर्युक्ति की जो समान्तर गाथायें प्राप्त होती हैं उनका सद्भव किया गया है। सम्बद्ध गाथाओं के पाठ-भेदों का तुलनात्मक विवेचन कर अपेक्षित पाठों का सुझाव दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में इन्हित दृष्टान्त' है। धर्मकथाओं का संक्षिप्त रूप— मात्र एक-दो गाथाओं में कथा के मुख्य बिन्दुओं तथा घटनाओं के सङ्केत ही निर्युक्ति में प्राप्त होते हैं। उसका पूर्ण स्वरूप परवर्ती चूर्णि साहित्य में उपलब्ध होता है। इस अध्याय में चूर्णियों— विशेषतः निशीथसूत्रभाष्यचूर्णि और दशाश्रुतस्कन्धनचूर्णि में प्राप्त कथा के मूल पाठ दिये गये हैं तथा चूर्णियाँ के आधार पर हिन्दी में सारांश प्रस्तुत किया गया है।

निर्युक्ति में अधिकरण अर्थात् पाप के दुष्परिणाम, क्षमा का माहात्म्य और चारों कथायों— क्रोध, मान, माया और लोभ के दुष्परिणामों को बताने वाली कथाओं को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन कथाओं का मन्त्रव्य श्रमण-श्रमणी वर्ग और श्रावक-श्राविका वर्ग को अधिकरण, कषायादि से विरत रहने, क्षमा आदि धर्मों का पालन करने की प्रेरणा देना है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन के चारों अध्यायों का निष्कर्ष उपसंहार के रूप में प्रस्तुत है।

पुस्तक के अन्त में शास्त्रानुकमणिका, शब्दानुकमणिका और सन्दर्भग्रन्थ-सूची दी गई है।

अपनी इस प्रथम पुस्तक प्रकाशन की बेला में मैं सर्वप्रथम अपनी माता स्वर्गीया शिवकुमारी देवी एवं पिता स्व० हरिद्वार सिंह को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ जिनकी पुण्यस्मृति हमारे लिए प्रतिक्षण प्रेरणादायिनी है।

तत्पश्चात् उन विद्वानों के प्रति सादर भाव से नतमस्तक हूँ जिन्होंने पूर्व में इससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित विषयों पर ग्रन्थों तथा शोध लेखों के माध्यम से प्रकाश डाला हैं और जिनके अध्ययन और उपयोग का मुद्दे अवसर प्राप्त हुआ है।

जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वान् परमादरणीय पद्मभूषण पं० दलसुख भाई मालविण्या जी की यह प्रेरणा कि जैन अध्ययन को व्यापक बनाने के लिए 'प्राकृत एवं संस्कृत में निबद्ध जैन पाण्डुलिपियों का सम्पादन एवं मूल ग्रन्थों का अनुवाद एवं अध्ययन

बहुत आवश्यक है', निर्युक्ति साहित्य का अनुवाद आरम्भ करने के मूल में है। इस अवसर पर उनको सादर नमन है।

मैं परमादरणीय प्रो० सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ का बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के अनुवाद की सहर्ष स्वीकृति ही नहीं प्रदान की बल्कि अनुवाद के समय अपने बहुमूल्य सुझाव दिये एवं सहयोग के लिए सदैव उपलब्ध रहे। इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में अपने उच्चकोटि के शोध लेख 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्जीवन' को प्रकाशित करने की सहर्ष स्वीकृति देकर उन्होंने पुनः यह शुद्धी कुरा की है और हम कृति की गरिमा में बढ़िया है। की

मैं अपने परमपूज्य गुरु प्रोफेसर सुरेश चन्द्र पाण्डे, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, पार्श्वनाथ विद्यापीठ को नमन करता हूँ जिनका आशीर्वाद परे लिए सतत प्रेरणा का स्रोत एवं मार्गदर्शक रहा है। निर्युक्ति की सम्पूर्ण गाथाओं की संस्कृत छाया का संशोधन उनके द्वारा किया गया है।

जैन विद्या के अद्वयी विद्वान् प्रोफेसर एम०ए० ढाकी, डायरेक्टर, अमेरिकन इंस्टीच्यूट, रामनगर के भी बहुमूल्य सुझाव आशीर्वाद रूप में सदैव प्राप्त होते रहे हैं, इसे मैं अपना सदृश्य मानता हूँ।

प्राचीन ग्रन्थों का छन्द की दृष्टि से पाठ-निर्धारण के लिए उदयपुर सङ्गोष्ठी (प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा) में प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान् प्रो० के० आर० चन्द्र, पूर्व अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद द्वारा प्रस्तुत शोध लेख 'छन्द की दृष्टि से प्रकीर्णकों का पाठ निर्धारण' से प्रेरणा मिली इसके लिए मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा।

इसी क्रम में मैं मान्य भाई डॉ० जितेन्द्र बी० शाह, निदेशक शारदाबेन चीमन भाई एजूकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। डॉ० शाह ने दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के समान्तरे गाथाओं की सेण्टर में उपलब्ध सूची भेजी जिससे समान्तर गाथाओं के सङ्कलन में बड़ी सुविधा मिली। वहाँ इस सूची को कम्प्युटर से तैयार करने में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, प्रवर्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ (तत्कालीन शोधाधिकारी, शारदाबेन) की अहम भूमिका रही, अतः उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

इस निर्युक्ति 'मूल' की शब्दानुक्रमणिका बनाने में मेरी बड़ी बेटी अदिति ने भी सहयोग किया अतः मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ।

मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध समिति के मानद सचिव माननीय श्री भूपेन्द्र नाथ जैन और संयुक्त सचिव आदरणीय श्री हन्द्रभूति बरड़ का भी कृतज्ञ हूं जिन्होने इस कृति के प्रकाशन तक लक्षीवृत्ति ऐहा इसे ग्रन्थालय में लाने का मान्यता दिया।

मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के अपने सहयोगियों प्रबन्धकालीन डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० विजय कुमार, डॉ० सुधा जैन और डॉ० असीम कुमार मिश्र (शोध अध्येता) से समय-समय पर प्राप्त सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूं।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने ग्रन्थ प्रकाशन की समुचित व्यवस्था का दायित्व वहन किया अतः उन्हें पुनः धन्यवाद देता हूं।

ग्रन्थ-लेखन के आरम्भ से ही विद्यापीठ पुस्तकालय के प्रभारी श्री ओम प्रकाश सिंह ने समय-असमय पुस्तकों को उपलब्ध कराकर जो सहयोग किया उसके लिए उन्हें धन्यवाद देता हूं। मैं श्री राकेश कुमार सिंह के प्राप्त सहयोग का भी स्मरण करना चाहूँगा जिन्होने आवश्यक छाया प्रति आदि तत्परता से उपलब्ध कराया।

इस ग्रन्थ की अक्षर-सज्जा श्री अजय कुमार चौहान, 'सरिता कम्प्यूटर्स', औरंगाबाद, वाराणसी ने की और मुद्रण कार्य 'रत्ना प्रिण्टिंग वर्क्स' कमच्छा, वाराणसी ने किया है एतदर्थ हम उन दोनों लोगों के प्रति आभारी हैं।

डॉ० अशीक कुमार सिंह



भूमिका

निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन

प्रो. सागरभल जैन

जिसप्रकार वेद के शब्दों की व्याख्या के रूप में सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये उसी प्रकार सम्भवतः जैन परम्परा में आगमों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियों की रचना हुई। निर्युक्ति जैनागमों की प्राचीनतम व्याख्या है। इसके पश्चात् धार्य, चूर्णि, संस्कृत टीका और टब्बा अर्थात् प्राचीन मह-गुरुओं में निबद्ध आगमिक शब्दों के अर्थ का क्रम आता है। यही नहीं आधुनिक काल में भी हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी भाषा में आगमों पर व्याख्या साहित्य लिखा जाता रहा है।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शार्पेण्टर 'उत्तराध्ययनसूत्र' (उपशाला, पृ० ५०) की भूमिका में निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं 'निर्युक्तियों मुख्य रूप से केवल सम्बन्धित ग्रन्थ की विषयसूची का काम करती है और वे सभी विस्तारयुक्त कथाओं को संक्षेप में उल्लिखित करती हैं'।

'अनुयोगद्वारसूत्र' में निर्युक्तियों के तीन विभाग किये गये हैं—

१. निष्क्रेप-निर्युक्ति— इसमें निष्क्रेपों के आधार पर पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

२. उपोद्घात-निर्युक्ति— इसमें आगम में वर्णित विषय का पूर्वभूमिका के रूप में स्पष्टीकरण किया जाता है।

३. सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति— इसमें आगम की विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है।

प्रो. घाटगे ने (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, खण्ड १२, पृष्ठ २७०) निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है—

१. शुद्ध-निर्युक्तियाँ— जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचाराङ्क और सूत्रकृताङ्क की निर्युक्तियाँ।

२. मिश्रित किन्तु व्यवच्छेद निर्युक्तियाँ— जिनमें मूलभाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।

३. भाष्य मिश्रित-निर्युक्तियाँ— वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहदभाष्य में ही समाहित हो गयी हैं और उन दोनों को पृथक् कर पाना कठिन है, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

निर्युक्तियों में वस्तुतः आगम के पारिभाषिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ को सुनिश्चित करने का प्रयत्न हुआ है। ये अति संक्षिप्त हैं, इनमें मात्र आगमिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ-सङ्केत हैं। भाष्य और टीकाओं के माध्यम से ही इन शब्दों एवं विषयों को सम्पूर्ण प्रकार से समझा जा सकता है। जैन आगमों पर प्रणीत निर्युक्तियाँ प्राकृत गायाओं में हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्ति शब्द का अर्थ और निर्युक्तियों का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है— “एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, अतः कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग में उपयुक्त है, वह निर्णय आवश्यक होता है। महावीर के उपदेश के आधार पर लिखित आगमिक ग्रन्थों में किस शब्द का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना ही निर्युक्ति का प्रयोजन है।”^१ दूसरे शब्दों में निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है। जैन परम्परा में अनेक शब्द व्युत्पत्तिप्रक अर्थ में गृहीत न होकर पारिभाषिक अर्थ में गृहीत हैं, जैसे अस्तिकायों के प्रसङ्ग में धर्म एवं अधर्म शब्द, कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में कर्म शब्द एवं स्वाद्वाद में प्रयुक्त स्थात् शब्द। आचाराङ्ग में ‘दर्शन’ (दर्शन) शब्द का जो अर्थ है, उत्तराध्ययन में उसका वही अर्थ नहीं है। दर्शनावरण में दर्शन शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ दर्शनमोह के सन्दर्भ में नहीं है। अतः आगम ग्रन्थों में प्रसङ्गानुसार शब्द का अर्थ का निर्धारण करने में निर्युक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

निर्युक्तियों की व्याख्या शैली का आधार मुख्य रूप से जैन परम्परा में प्रचलित निषेप पद्धति रही है। जैन परम्परा में वाक्यार्थ का निश्चय नयों के आधार पर एवं शब्दार्थ का निश्चय निषेपों के आधार पर होता है। निषेप चार हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन चार निषेपों के आधार पर एक ही शब्द के चार भिन्न अर्थ हो सकते हैं। निषेप पद्धति में शब्द के विविध सम्भावित अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के रूप में आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में अभिनिबोध ज्ञान के द्वार भेदों के उल्लेख के पश्चात् उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अर्थों (पदार्थों) का ग्रहण अवश्यह है एवं उनके सम्बन्ध में चिनान इहा है।^२ इसीप्रकार निर्युक्तियों में किसी शब्द के पर्यायवाची— एकार्थक शब्दों का भी सङ्कलन किया गया है, जैसे— अभिनिबोधिक शब्द के पर्याय—इहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा।^३ निर्युक्तियाँ आगमों के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के अर्थों

को समृष्ट करती हैं एवं आगमों के विभिन्न अध्ययनों और उद्देशकों का संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। यद्यपि इसप्रकार की प्रवृत्ति सभी निर्युक्तियों में नहीं है, फिर भी उनमें आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ तथा उनकी विषय-वस्तु का अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्रमुख निर्युक्तियाँ

आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने निम्न दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा की थी—

- | | |
|---------------------------|----------------------------|
| १. आवश्यकनिर्युक्ति | २. दशवैकालिकनिर्युक्ति |
| ३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति | ४. आचाराङ्गनिर्युक्ति |
| ५. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति | ६. दशश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति |
| ७. वृहत्कल्पनिर्युक्ति | ८. व्यतिशासननिर्युक्ति |
| ९. सूर्यप्रशापिनिर्युक्ति | १०. ऋषिभाषितनिर्युक्ति |

वर्तमान में आठ निर्युक्तियाँ ही उपलब्ध हैं, अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। आज यह निश्चय कर पाना अति कठिन है कि ये अन्तिम दो निर्युक्तियाँ लिखी भी गयीं या नहीं। ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि किसी काल में ये निर्युक्तियाँ रहीं और बाद में विलुप्त हो गयीं। यद्यपि मैंने अपनी 'ऋषिभाषित की भूमिका' में यह सम्भावना व्यक्त की है कि वर्तमान 'इसीपण्डलत्यु' सम्भवतः ऋषिभाषितनिर्युक्ति का परिवर्तित रूप हो, किन्तु इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। इन दोनों निर्युक्तियों के अस्तित्व-अनास्तित्व के सन्दर्भ में हमारे सामने निम्न विकल्प हो सकते हैं—

१. यदि इन दोनों निर्युक्तियों के कर्ता एक ही व्यक्ति हैं और उन्होंने इन निर्युक्तियों की रचना आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित क्रम में की है तो सम्भव है कि वे अपने जीवनकाल में आठ निर्युक्तियों की ही रचना कर पायें हों, अन्तिम दो की रचना नहीं कर पायें हों।

२. दूसरे, ग्रन्थों के महत्व के कारण इन दोनों आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा निर्युक्तिकार ने कर ली हो किन्तु सूर्यप्रशापित में जैन-आचार मर्यादाओं के प्रतिकूल कुछ उल्लेख और ऋषिभाषित में नारद, महालिगोशाल आदि एवं जैन परम्परा के लिए विवादास्पद व्यक्तियों के उल्लेख देखकर उसने इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो।

३. यह भी हो सकता है कि इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी हों किन्तु विवादित विषयों का उल्लेख होने से इन निर्युक्तियों को पठन-पाठन से बाहर रखा गया हो और फलतः उपेक्षा के कारण कालक्रम में वे विलुप्त हो गयी हों। यद्यपि यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि यदि जैन आचार्यों ने विवादित होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थों को संरक्षित रखा तो उन्होंने इनकी निर्युक्तियों को संरक्षित करके क्यों नहीं रखा?

४. एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप में मान्य गोविन्दनिर्युक्ति जिस प्रकार विलुप्त हो गई है, उसी प्रकार ये निर्युक्तियाँ भी विलुप्त हो गई हों।

निर्युक्ति साहित्य में उपरोक्त दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं आराधनानिर्युक्ति को भी समाविष्ट किया जाता है। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का एक अंश है। अतः इन दोनों को स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियाँ अपने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप में ही उपलब्ध होती हैं। आचार्य मलयगिरि ने पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग माना है, उनके अनुसार दशवैकालिक के 'पिण्डौषणा' नामक पाँचवें अध्ययन की निर्युक्ति के विशद होने से उसको वहाँ से पृथक् कर पिण्डनिर्युक्ति नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना दिया गया। मलयगिरि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ दशवैकालिकनिर्युक्ति को ग्रन्थकार ने नमस्कारपूर्वक प्रारम्भ किया, वहाँ पिण्डनिर्युक्ति में ऐसा नहीं है, अतः पिण्डनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिकनिर्युक्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इन्हें बहुत पहले ही अलग कर दिया गया था। जहाँ तक आराधनानिर्युक्ति का प्रश्न है, श्रेताम्बर साहित्य में इसके उल्लेख का अभाव है। प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने बृहत्कथाकोश की अपनी प्रस्तावना^१ (पृ० ३१) में मूलाचार की एक गाथा पर वसुनन्दी की टीका के आधार पर इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु आराधनानिर्युक्ति की उनको यह कल्पना यथार्थ नहीं प्रतीत होती है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी एवं प्रो० ए० एन० उपाध्ये मूलाचार की उक्त गाथा के अर्थ को सम्बद्ध प्रकार से समझ नहीं गये हैं।^२ वह गाथा निम्न है—

आराधण पिण्ड्युक्ति मरणविभूति य संगहत्युदिओ ।

पञ्चवक्त्वाणावसय घम्मकहाओ य एतिसओ ॥

— (मूलाचार, पञ्चाचाराधिकार, २७९)

अर्थात् आराधना, निर्युक्ति, मरणविद्यालय, सख्यात्मीयता, श्रृंगति (जीर्णतुल्ति), प्रत्याख्यान (महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान), आवश्यकसूत्र, धर्मकथा तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों का अध्ययन अस्वाध्याय काल में किया जा सकता है। वस्तुतः मूलाचार की इस गाथा के अनुसार आराधना एवं निर्युक्ति ये अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। यहीं आराधना से तात्पर्य आराधना नामक प्रकीर्णक अथवा भगवती-आराधना से तथा निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यक आदि सभी निर्युक्तियों से है। अतः आराधनानिर्युक्ति को कल्पना अव्यर्थ है। इन दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त आर्य गोविन्द की गोविन्दनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु यह निर्युक्ति भी वर्तमान में अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख नन्दीसूत्र, 'व्यवहारभाष्य,' आवश्यकचूर्णिं^{१०} एवं निशीथचूर्णिं^{११} में मिलता है। इस निर्युक्ति की विषय-वस्तु का उद्देश्य मुख्य रूप से एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, बनस्पति आदि में जीवन सिद्ध करना था। गोविन्द नामक कर्ता आचाराङ्क के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। कथानकों के अनुसार ये बौद्ध परम्परा से जैन परम्परा में दीक्षित हुए थे। मेरी दृष्टि में यह निर्युक्ति आचाराङ्क के प्रथम अध्ययन और दशावैकालिक के चतुर्थ षष्ठ्यजीवनिकाय अध्ययन से सम्बन्धित रही होगी। इसका उद्देश्य बौद्धों की मान्यता के विरुद्ध पृथ्वी, पानी आदि में जीवन की सिद्धि करना रहा होगा। इसी कारण इसकी गणना दर्शन प्रभावक ग्रन्थ में की गयी है। संज्ञी श्रुति के सन्दर्भ में इसका उल्लेख भी यही बताता है।^{१२}

इसीप्रकार संसक्तनिर्युक्ति^{१३} नामक एक और निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है। इसमें ८४ आगमों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इसमें मात्र ९४ गाथाएँ हैं। ८४ आगमों का उल्लेख होने से विद्वानों ने इसे पर्याप्त परवर्तों एवं विसङ्गत रचना माना है। अतः इसे प्राचीन निर्युक्ति साहित्य में परिगणित नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार वर्तमान निर्युक्तियों दस निर्युक्तियों में समाहित हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी निर्युक्ति नामक ग्रन्थ की जानकारी हमें नहीं है।

दस निर्युक्तियों का रचनाक्रम

दसों निर्युक्तियों के कर्ता ने इनकी रचना एक क्रम में की होगी। निम्न प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित क्रम से ही इनकी रचना हुई थी—

१. आवश्यकनिर्युक्ति की सर्वप्रथम रचना स्वतः सिद्ध है क्योंकि इसमें ही दस निर्युक्तियों की रचना की गयी है और आवश्यक का नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।^{१४} पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की निष्ठव्वाद से सम्बन्धित सभी गाथाएँ (गाथा

७७८ से ७८४)^{१६} उत्तराध्ययननिर्युक्ति में (गाथा १६४ से १७८)^{१७} प्राप्त होना भी यही सिद्ध करता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि अन्य निर्युक्तियों की रचना हुई है। आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई है और इसके बाद प्रतिज्ञागाथा के क्रमानुसार अन्य निर्युक्तियों की रचना की गई। इस कथन की पुष्टि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के सन्दर्भों से होती है।

२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २९ के 'विणओ पुब्वुद्दिष्टा' अर्थात् विनय के सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं।^{१८} इस उल्लेख का तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व रचित निर्युक्ति में विनय सम्बन्धी विवेचन था। दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय समाधि नामक नवे अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ३०९ से ३२६) में 'विनय' शब्द की व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।^{१९} इसीप्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा २०७) में 'कामापुब्वुद्दिष्टा'^{२०} से सूचित विवेचन भी हमें दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा १६१ से १६३ में प्राप्त हो जाता है।^{२१} उपर्युक्त दोनों सूचनाये सिद्ध करती हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद ही लिखी गयी थी।

३. आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति और फिर उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना तो पूर्व चर्चा से सिद्ध हो चुकी है। इनके पश्चात् आचाराङ्गनिर्युक्ति को रचना हुई है, क्योंकि आचाराङ्गनिर्युक्ति की गाथा पाँच में कहा गया है— 'आयारे अंगम्मि य पुब्वुद्दिष्टा चउङ्कयं निकुत्तेवो' — आचार और अङ्ग के निष्केपों का विवेचन पहले हो चुका है।^{२२} दशवैकालिकनिर्युक्ति में 'भुल्लकाचार' अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ७९-८८) में 'आचार' शब्द के अर्थ का विवेचन तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'चतुरङ्ग' अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए गाथा १४३-१४४ में 'अङ्ग' शब्द का विवेचन किया गया है।^{२३} अतः यह सिद्ध हो जाता है कि आवश्यक, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन के पश्चात् ही आचाराङ्गनिर्युक्ति का रचनाक्रम है।

इसीप्रकार आचाराङ्ग की चतुर्थ 'विमुक्तिचूलिका' की निर्युक्ति में 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति के क्रम में गाथा १३१ में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की भी निर्युक्ति समझें।^{२४} उत्तराध्ययन के अद्वाइसवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ४९७-९८) में मोक्ष शब्द की निर्युक्ति होने से^{२५} यही सिद्ध हुआ कि आचाराङ्गनिर्युक्ति का क्रम उत्तराध्ययन के पश्चात् है। आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति एवं आचाराङ्गनिर्युक्ति के पश्चात् सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति का क्रम है। यह सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति की गाथा ९९ में उल्लिखित 'धर्म' शब्द के निष्केपों का विवेचन पूर्व में हो चुका है (धर्मो पुब्वुद्दिष्टो) इस उल्लेख से ज्ञात होता है।^{२६} दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन करते

समय धर्म शब्द के निषेपों का विवेचन हुआ है।^{३७} इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद निर्मित हुई है। इसी प्रकार सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति की गाथा १२७ में कहा गया है, 'गंथोपुष्टुद्विष्टो'।^{३८} हप देखते हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा २६७-२६८) में 'ग्रन्थ' शब्द के निषेपों का भी कथन हुआ है।^{३९} इससे सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति भी दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति से परवर्ती हो सिद्ध होती है।

४. उपर्युक्त पाँच निर्युक्तियों के यथाक्रम से निपिंत होने के पश्चात् ही तीन छेद सूत्रों यथा— दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार पर निर्युक्तियाँ भी उनके उल्लेख क्रम से ही लिखी गयी हैं। दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही प्राचीनगोत्रीय सकल श्रुत के ज्ञाता और दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार के रचयिता भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। इनमें भी इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख उसी क्रम से हैं जिस क्रम से निर्युक्ति-लेखन की प्रतिज्ञा में है।^{४०} उपर्युक्त आठ निर्युक्तियों का रचना के पश्चात् ही सूर्यप्रश्नपि एवं इसिभासियाइं की निर्युक्ति की रचना होनी थी। इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी भी गयीं था नहीं, आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। पूर्वोक्त प्रतिज्ञा गाथा के अतिरिक्त हमें इन निर्युक्तियों के सन्दर्भ में कही भी, कोई भी सूचना नहीं मिलती है। अतः इन निर्युक्तियों की रचना होना संदिग्ध ही है। या तो इन निर्युक्तियों के लेखन का क्रम आने से पूर्व ही निर्युक्तिकार का स्वर्गवास हो चुका होगा या फिर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन दोनों ग्रन्थों में कुछ विवादित प्रसंगों का उल्लेख होने से निर्युक्तिकार ने इनकी रचना करने का निर्णय ही स्थगित कर दिया होगा।

अतः सम्भावना यही है कि ये दोनों निर्युक्तियाँ लिखी ही नहीं गई। इसके कारण भले ही कुछ भी रहे हों। प्रतिज्ञागाथा के अतिरिक्त सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति गाथा १८९ में ऋषिभाषित का नाम अवश्य आया है।^{४१} वहाँ यह कहा गया है कि जिस-जिस सिद्धान्त या मत में जिस किसी अर्थ का निश्चय करना होता है उसमें पृत्र कहा गया अर्थ ही मान्य होता है, जैसे कि— ऋषिभाषित में। किन्तु यह उल्लेख ऋषिभाषित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में ही सूचना देता है न कि उसकी निर्युक्ति के सम्बन्ध में।

निर्युक्तिकार और रचना-काल

निर्युक्तियों के कर्ता कौन है? उनका रचना काल क्या है? — ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके ग्रन्थ माथी ही विचार करेंगे।

परम्परागत रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वभर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुतकेवली भद्रबाहु को निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में स्वीकार करने वाले निम्न पाँच साक्ष्यों को सङ्कलित करके प्रस्तुत किया है, जिन्हें हम यहाँ अविकल रूप से दे रहे हैं^{३२} —

१. अनुयोगदायिनः— सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति ॥

— आचाराङ्गसूत्र, शीलाङ्काचार्यकृत टीका-पत्र ४।

२. न च केषाचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्थाङ्कालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम्, स हि भगवाँश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशङ्का? इति।—उत्तराध्ययनसूत्र शान्तिसुरिकृता टीका-पत्र १३९।

३. “गुणाधिकस्य बन्दनं कर्तव्यं न त्वधमस्य, यत उक्तम् —” गुणाहिए वंदण्यं। भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति? इति। अत्रोच्यते— गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्ति-गुणाधिकयात्, अतो न दोष इति।” — ओष्णनिर्युक्ति द्रोणाचार्यकृतशटीका-पत्र ३।

४. “इह चरणकरणक्रियाकलापतरमुलकल्पं सामायिकादिष्ठध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूप-मावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधु—श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैः तद्व्याख्यानरूपा” आधिणिबोहियनार्ण०” इत्यादिप्रसिद्धप्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता।” विशेषावश्यक मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत टीका-पत्र १।

५. “साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिः।” बृहत्कल्पपीठिका भलयगिरिकृत टीका-पत्र २।

६. “इहश्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधार;...श्रीभद्र-बाहुस्वामी... कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्युद्धवान्।” बृहत्कल्पपीठिका श्रीक्षेमकीर्ति- सूरिअनुसन्धिता टीका-पत्र १७७।

इन समस्त सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों का कर्ता मानने वाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्यशीलाङ्क का है। आर्यशीलाङ्क का समय विक्रम संवत् की २वीं-१०वीं सदी के लगभग माना जाता है। जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु प्रथम को माना है, उनमें

आर्यद्रोण, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्तिसूरि तथा स्वेमकीर्तिसूरि के नाम प्रमुख हैं किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं। अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकता है। उन्होंने मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है। दुर्भाग्य से ८वीं-९वीं सदी के पश्चात् चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु और वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक, नामसाम्य के कारण एक-दूसरे से चुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनायें भी प्रथम के नाम से चढ़ा दी गई। यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई। इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्ता के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी। यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बृहत्कल्पसूत्र (निर्युक्ति, लघुमात्र-वृत्युपेतम्) के षष्ठि विभाग के आमुख में यह लिखा है कि निर्युक्तिकार स्थविर आर्य भद्रबाहु हैं, इस मान्यता को पुष्ट करने वाला एक प्रमाण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकमात्र की स्वोपज्ञ टीका में भी मिलता है।^{३१} यद्यपि उन्होंने वहाँ उस प्रमाण का सन्दर्भ सहित उल्लेख नहीं किया है। मैं इस सन्दर्भ को खोजने का प्रयत्न कर रहा हूँ। उसके मिल जाने पर भी हम केवल इतना ही कह सकेंगे कि विक्रम की लगभग सातवीं शती से निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित हो गयी थी।

निर्युक्तिकार, प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं अथवा नैमित्तिक (वाराहमिहिर के भाई) भद्रबाहु हैं, यह प्रश्न विवादास्पद है। जैसा कि हमने सङ्क्षेत किया है निर्युक्तियों को प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु कृत मानने की परम्परा आर्यशीलाङ्क से या उसके पूर्व जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से प्रारम्भ हुई है। किन्तु उनके इस उल्लेख में कितनी प्रामाणिकता है यह विचारणीय है, क्योंकि निर्युक्तियों में ही ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जिनसे निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता में जाधा उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा वे सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जो निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता के विरोध में जाते हैं। हम उनकी स्थापनाओं के हार्द को ही हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६४-७७६) में दशस्वामी के विद्यागुरु आर्यसिंहगिरि, आर्यवग्रस्वामी, तोषलिपुत्र, आर्यरक्षित, आर्य फलगुमित्र, स्थविर भद्रगुप्त जैसे आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है।^{३२} ये सभी आचार्य चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु से परवती हैं। तोषलिपुत्र के अतिरिक्त सभी कल्पसूत्र स्थविरावली में उल्लिखित हैं। यदि

निर्युक्तियाँ चतुर्दशा पूर्वधर आर्यभद्रबाहु की कृति होतीं तो उनमें इन नामों के उल्लेख सम्भव नहीं थे।

२. इसीप्रकार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ४९८) में पादलिप्ताचार्य^{३५} एवं गाथा ५०३ से ५०५ में वज्रस्वामी के मामा समितसूरि^{३६} के साथ ब्रह्मदीपकशाखा^{३७} का भी उल्लेख है, ये उल्लेख यही सिद्ध करते हैं कि पिण्डनिर्युक्ति भी चतुर्दशा पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की कृति नहीं है, क्योंकि पादलिप्तसूरि, समितसूरि तथा ब्रह्मदीपकशाखा की उत्पत्ति प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु से परवतीं हैं।

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा १२०) में कालकाचार्य^{३८} की कथा का सङ्केत है। कालकाचार्य भी प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु से लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं।

४. ओषधनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में चतुर्दशा पूर्वधर, दश पूर्वधर एवं एकादश अङ्गों के जाताओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है,^{३९} ऐसा द्रोणाचार्य ने अपनी टीका में सूचित किया है।^{४०} यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी सामान्य कथन की दृष्टि से इसे असम्भव नहीं मानते हैं, क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि नमस्कारमन्त्र में अपने छोटे पद और व्यक्तियों को नमस्कार करते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में कोई भी चतुर्दशा पूर्वधर दसपूर्वधर को नमस्कार करे, यह उचित नहीं लगता। पुनः आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६९) में दस पूर्वधर वज्रस्वामी को नाम लेकर जो बन्दन किया गया है,^{४१} वह कदापि उचित नहीं माना जा सकता है।

५. पुनः आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६३-७७४) में निर्दिष्ट है कि शिष्यों की स्मरण शक्ति का हास देखकर आर्य रक्षित ने, वज्रस्वामी के काल तक जो आगम अनुयोगों में विभाजित नहीं थे, उन्हें अनुयोगों में विभाजित किया।^{४२} परवतीं घटना सूचक यह कथन भी प्रमाणित करता है कि निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हैं, अपितु आर्यरक्षित के पश्चात् होने वाले कोई भद्रबाहु हैं।

६. दशवैकालिकनिर्युक्ति^{४३} (गाथा ४) एवं ओषधनिर्युक्ति^{४४} (गाथा २) में चरणकरणानुयोग की निर्युक्ति कहूँगा इस उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्युक्ति की रचना अनुयोगों के विभाजन के बाद अर्थात् आर्यरक्षित के पश्चात् हुई है।

७. आवश्यकनिर्युक्ति^{४५} (गाथा ७७८-७८३) में तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा १६४-१७८) में सात निष्ठव और आठवें बोटिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। अन्तिम सातवें निष्ठव तथा बोटिक मत की उत्पत्ति क्रमशः वीरनिर्वाण संबत् ५८४ एवं ६०९ में हुई। ये घटनाएँ चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु के

लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् हुई हैं। अतः उनके द्वारा रचित निर्युक्ति में इनका उल्लेख होना सम्भव नहीं है। वैसे मेरे दृष्टि में बोटिक मत की उत्पत्ति का कथन निर्युक्तिकार का नहीं है— निर्युक्ति में सात निहवों का ही उल्लेख है। निहवों के काल एवं स्थान सम्बन्धी गाथाएँ भाष्य की गाथाएँ हैं— जो बाद में निर्युक्ति में मिल गई हैं। किन्तु निर्युक्तियों में सात निहवों का उल्लेख होना भी इस बात का प्रमाण है कि निर्युक्तियाँ प्राचीनगोप्रीय पूर्वधर भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं।

८. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति (गाथा १४६) में द्रव्य-निक्षेप के सम्बन्ध में एकभविक, बद्धायुज्य और अभिमुखित नाम-गोत्र— ऐसे तीन आदेशों का उल्लेख हुआ है।^{५३} ये विभिन्न मान्यताएँ भद्रबाहु के काफी पश्चात् आर्य सुहसित, आर्य मंकु आदि परवर्ती आचार्यों के काल में निर्भित हुई हैं। अतः इन मान्यताओं के उल्लेख से भी निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोप्रीय भद्रबाहु हैं, यह मानने में बाधा नहीं है।

मुनिश्री पुण्यविजय जी ने उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य, जो निर्युक्तिकार के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को मानते हैं, की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि निर्युक्तिकार त्रिकालशानी हैं। अतः उनके द्वारा परवर्ती घटनाओं का उल्लेख होना असम्भव नहीं है।^{५४} मुनि पुण्यविजय जी कहते हैं कि हम शान्त्याचार्य की यह बात स्वीकार कर भी लें, तो भी निर्युक्तियों में वज्रस्वामी को नामपूर्वक नमस्कार आदि, किसी भी दृष्टि से युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं कि यदि उपर्युक्त घटनाएँ घटित होने के पूर्व ही निर्युक्तियों में उल्लिखित कर दी गयी हों तो भी अमुक मान्यता अमुक पुरुष द्वारा स्थापित हुई यह कैसे कहा जा सकता है।^{५५}

पुनः जिन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में है, उससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समय आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि अतिविस्तृत एवं परिपूर्ण थे। ऐसी स्थिति में उन आगमों पर लिखी गयी निर्युक्ति भी अतिविशाल एवं चारों अनुयोगभय होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भद्रबाहु को निर्युक्तिकार मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ही थे और उनके द्वारा रचित निर्युक्तियाँ भी रचना के समय अतिविशाल थीं। कालान्तर में स्थविर आर्यरक्षित ने अपने शिष्य पुष्ट्यमित्र की विस्मृति एवं भविष्य में होने वाले शिष्यों की मन्द बुद्धि को ध्यान में रखकर आगमों के अनुयोगों की भाँति निर्युक्तियों को भी व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। इसके प्रत्युत्तर में मुनि श्री पुण्यविजयजी ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं— प्रथम, आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों को पृथक् करना उल्लिखित है, किन्तु निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने का एक भी उल्लेख नहीं है। स्कन्दित

आदि ने विभिन्न वाचनाओं में 'आगमों' को ही व्यवस्थित किया, निर्युक्तियों को नहीं।^{५८}

दूसरे, उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु प्रथम के युग में विद्यमान विशाल आश-आगमों पर नहीं हैं। परम्परागत मान्यता है कि आर्यरक्षित के युग में भी आचाराङ्ग एवं सूत्रकृताङ्ग आकार में उतने ही विशाल थे, जितने भद्रबाहु के काल में। ऐसी स्थिति में चाहे एक ही अनुयोग का अनुसारण करके निर्युक्तियाँ लिखी गयी हों, उनकी विषय-वस्तु तो विशाल होनी चाहिए थी। जबकि आज उपलब्ध निर्युक्तियाँ माथुरीवाचना द्वाय या बलभी वाचना द्वास निर्धारित पाठ वाले आगमों का ही अनुसारण कर रही हैं। यदि यह कहा जाय कि अनुयोगों का पृथक्करण करते समय आर्यरक्षित ने निर्युक्तियों को भी पुनः व्यवस्थित किया और उनमें अनेक गाथायें प्रक्षिप्त भी की तो प्रश्न उठता है कि उनमें गोष्ठामाहिल और बोटिक मत की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण कैसे आये, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् हुई है।

मेरी दृष्टि में सप्त निहवों का उल्लेख करने वाली गाथाएँ तो मूल गाथाएँ हैं, किन्तु बोटिक मत के उत्पत्ति स्थल (रथवीरपुर) एवं उत्पत्तिकाल (वीर नि० सं० ६०९) का उल्लेख करने वाली गाथायें प्रक्षिप्त गाथायें हैं। ये गाथाएँ निर्युक्ति की न होकर भाष्य की हैं, क्योंकि निहवों एवं उनके मतों का जहाँ भी उल्लेख है वहाँ सात का ही नाम आया है। उनके उत्पत्तिस्थल एवं काल को सूचित करने वाली इन दो गाथाओं में ये संख्या आठ हो गयी।^{५९} आश्वर्य यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों की उत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है और यदि बोटिकमत के प्रस्तोता एवं उनके मन्तव्य का उल्लेख मूल आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं है, तो फिर उनके उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल का उल्लेख निर्युक्ति में कैसे हो सकता है? वस्तुतः भाष्य की अनेक गाथायें निर्युक्तियों में मिल गई हैं। अतः ये नगर एवं काल सूचक गाथाएँ भाष्य की होनी चाहिये। उत्तराध्ययननिर्युक्ति (तृतीय अध्ययन) की निर्युक्ति के अन्त में उक्त सप्त निहवों का उल्लेख होने के बाद एक गाथा में रथवीरपुर नगर के दीपक उद्घान में शिवभूति का आर्यकृष्ण से विवाद होने का उल्लेख है।^{६०} उल्लेखनीय है कि इसमें विवाद के स्वरूप और अन्य किसी बात की चर्चा नहीं है जबकि यहाँ प्रत्येक निहव के मन्तव्य का आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा विस्तृत विवरण दिया गया है। अतः मेरी दृष्टि में यह गाथा भी प्रक्षिप्त है। यह गाथा आवश्यक मूलभाष्य में प्राप्त गाथा की अनुकूलता है। यह गाथा बहुत अधिक प्रासङ्गिक भी नहीं कही जा सकती। निश्चित रूप से उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी निहवों की चर्चा के बाद ही यह गाथा प्रक्षिप्त की गयी है।

यह भी तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के काल में रचित निर्युक्तियों को आर्यरक्षित के काल में सर्वप्रथम व्यवस्थित किया गया और परवर्ती आचार्यों ने अपने युग की आगमिक वाचना के अनुसार पुनः उन्हें व्यवस्थित किया। आश्वर्य तब और अधिक बढ़ जाता है जब इस परिवर्तन के विरुद्ध कोई भी स्वर उभरने की कहीं कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। इसके विपरीत आगमों में कुछ परिवर्तन करने का जब भी प्रयत्न किया गया तो उसके विरुद्ध स्वर उभरे और उन्हें उल्लिखित भी किया गया।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति ('अकाममरणीय' अध्ययन) में निम्न गाथा प्राप्त होती है—

सब्दे एए दारा मरणाविभन्नीए वणिणआ कमसो ।

सगलणिवणो पदत्वे जिण चडदस पुच्छ भासति ॥ २३२ ॥

(ज्ञातव्य है कि मुनिपुण्यविजय जी ने इसे गाथा २३३ लिखा है किन्तु 'निर्युक्तिसङ्घ्रह' में इस गाथा का क्रम २३२ ही है)।

इसके अनुसार "मरणाविभन्नि" में इन सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया गया है, पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से तो जिन अथवा चतुर्दशपूर्वधर ही जान सकते हैं।" यदि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर होते तो वे इस प्रकार नहीं लिखते। शान्त्याचार्य ने इसे दो आधारों पर व्याख्यायित किया है। प्रथम, चतुर्दश पूर्वधरों में परस्पर अर्थज्ञान की अपेक्षा से कमी-अधिकता होती है, इसी दृष्टि से यह कहा गया हो कि पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप तो चतुर्दशपूर्वी ही बता सकते हैं अथवा द्वार गाथा से लेकर आगे की ये सभी गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हों।^{१३} मुनि पुण्यविजय जी इन्हें भाष्य गाथाएँ स्वीकार नहीं करते हैं। भले ही ये गाथाएँ भाष्य-गाथा हों या न हों किन्तु शान्त्याचार्य ने निर्युक्तियों में भाष्य गाथा मिली होने की जो कल्पना की है, वह पूर्णतया असङ्गत नहीं है।

पुनः जैसा पूर्व में सूचित किया जा चुका है, सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति (पुण्डरीक अध्ययन) में 'पुण्डरीक' शब्द की निर्युक्ति करते समय द्रव्य निषेप से एकमविक, बद्धायुष्म और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का निर्युक्तिकार ने स्वयं ही सङ्घ्रह किया है।^{१४} बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (प्रथमविभाग, पृष्ठ ४४-४५) में ये तीनों आदेश आर्यसुहस्ति, आर्य मङ्ग एवं आर्यसमुद्र की मान्यताओं के रूप में उल्लिखित हैं।^{१५} इन तीनों आचार्यों के पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु (प्रथम) से परवर्ती होने से उनके मतों का सङ्घ्रह पूर्वधर भद्रबाहु द्वारा सम्भव नहीं है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में निम्न गाथा प्राप्त होती है—

वंदामि भद्रबाहुं पार्ष्णं चरिषसदलसुखनाणिं ।
सुतस्त कारगमिसिं दसासु कप्ये य वदहारे ॥

इसमें सकलश्रुतज्ञानी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु का बन्दन करते हुए उन्हें दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प एवं व्यवहार का रचयिता भी कहा गया है। यदि निर्युक्तियों के कर्ता पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो, वे स्वयं अपने को कैसे नमस्कार करते। इस गाथा को हम प्रक्षिप्त या आध्य गाथा भी नहीं कह सकते। अन्य की प्रारम्भिक भद्रल गाथा होने से चूर्णिकार ने भी स्वयं इसको निर्युक्तिगाथा के रूप में मान्य किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर, प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हो सकते।

इस समस्त चर्चा के आधार पर मुनि जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परागत दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथ ये चार छेदसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि दस निर्युक्तियाँ, उवसग्गहर (उपसर्गहर) एवं भद्रबाहुसंहिता— ये सभी कृतियाँ चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु स्वामी की मानी जाती हैं, किन्तु इनमें से चार छेदसूत्रों के रचयिता ही चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं। रोप दस निर्युक्तियाँ, उवसग्गहर एवं भद्रबाहु संहिता के रचयिता अन्य कोई भद्रबाहु होने चाहिए और सम्भवतः ये अन्य कोई नहीं, अपितु वाराहसंहिता के रचयिता वाराहमिहिर के सहोदर मन्त्रविद्यापारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होने चाहिए।^{१२}

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु के होने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये—^{१३}

१. आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा १२५२ से १२७०) में प्राप्त गन्धर्व नागदत्त के कथानक में नागदत्त के द्वारा सर्प के विष उतारने की क्रिया का वर्णन है।^{१४} उवसग्गहर में भी सर्प के विष उतारने की चर्चा है। अतः दोनों के कर्ता एक ही हैं और वे दोनों तन्त्र-मन्त्र में आस्था रखते थे।

२. पुनः नैमित्तिक भद्रबाहु के निर्युक्तियों के कर्ता होने के पक्ष में एक प्रमाण उनके द्वारा अपनी प्रतिज्ञागाथा में सूर्यग्रशङ्खि पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा^{१५} भी है। ऐसा साहस कोई ज्योतिष का विद्वान् ही कर सकता था। आचाराङ्कनिर्युक्ति में भी स्पष्ट रूप से निमित्त विद्या का निर्देश हुआ है।^{१६}

नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तिकार स्वीकार करने पर हमें निर्युक्तियों को विक्रम की छठीं सदी की रचनाएँ मानना होगा क्योंकि वाराहमिहिर ने स्वयं अपने समय (शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६६) का उल्लेख किया है।^{१७} नैमित्तिक

भद्रबाहु, वाराहमिहिर के भाई होने से उनके समकालीन हैं अतः इस स्थिति में निर्युक्तियों का रचनाकाल भी विक्रम की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वतः सिद्ध है। परन्तु निर्युक्तियों को विक्रम की छठीं सदी में उत्पन्न हुए नैमित्तिक भद्रबाहु की कृति मानने पर हमारे सामने कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में निर्युक्तियों के अस्तित्व का स्थृत उल्लेख है—

संखेज्ञाओ निज्जुतीओ संखेज्ञा संगहणीओ (नन्दीसूत्र, सूत्र सं. ४६)

स सुते सअत्ये सनिज्जुतिए संगहणाणाए (पाक्षिकसूत्र, पृ. ८०)

निश्चित रूप से नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र ये दोनों ग्रन्थ विक्रम की छठीं सदी के पूर्व निर्मित हो चुके थे। अतः इन ग्रन्थों में छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित निर्युक्तियों का उल्लेख कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजय जी का तर्क है कि नन्दीसूत्र में निर्युक्तियों का उल्लेख गोविन्दनिर्युक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया गया होगा।^{११} यह सत्य है कि गोविन्दनिर्युक्ति एक प्राचीन रचना है क्योंकि निशीथचूर्णि में गोविन्दनिर्युक्ति के उल्लेख के साथ-साथ गोविन्दनिर्युक्ति की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है।^{१२} गोविन्दनिर्युक्ति के रचयिता, नन्दीसूत्र में अनुयोगद्वार के ज्ञाता के रूप में उल्लिखित, आर्यगोविन्द ही होने चाहिए। स्थविरावली के अनुसार ये आर्य स्कन्दिल की चौथी पीढ़ी में हैं।^{१३} अतः इनका काल विक्रम की पाँचवीं सदी निश्चित होता है। इसी आधार पर मुनिश्री पुण्यविजय जी का अभिमत है कि नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति का उल्लेख आर्यगोविन्द की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है और दसों निर्युक्तियों के रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु हैं।

मुनिश्री पुण्यविजयजी की इस मान्यता को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उपरोक्त दस निर्युक्तियों का रचना से पूर्व भले ही आर्यगोविन्द की निर्युक्ति अस्तित्व में हो, किन्तु नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र का निर्युक्ति सम्बन्धी उल्लेख आचाराङ्ग आदि आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति के सम्बन्ध में ही है। गोविन्दनिर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं है, निशीथचूर्णि आदि में प्राप्त सभी उल्लेख इसे दर्शनप्रभावक ग्रन्थ और एकेन्द्रिय में जीव की सिद्धि करने वाला ग्रन्थ बताते हैं।^{१४} अतः उनकी यह मान्यता कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में गोविन्दनिर्युक्ति के सन्दर्भ में उल्लेख है, समुचित नहीं है। अतः यह मानना होगा कि नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् पाँचवीं शती के पूर्व आगमों पर निर्युक्ति लिखी जा चुकी थी।

२. दूसरे, इन दस निर्युक्तियों में कई ऐसे तथ्य हैं जो इन्हें वाराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम संवत् ५६६) की रचना मानने में बाधक हैं। आवश्यकनिर्युक्ति (सामायिक अध्ययन) में निहितों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल सम्बन्धी गाथा एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति (तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति) में शिवभूति का उल्लेख करने वाली गाथायें प्रक्षिप्त हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनचूर्णि, इस निर्युक्ति की प्रामाणिक व्याख्या— में १६७ गाथा तक की ही चूर्णि दी गयी है। निहितों के सन्दर्भ में अन्तिम चूर्णि 'जेष्ठा सुदंसण' नामक १६७ वीं गाथा की है। उसके आगे निहितों के वक्तव्य को सामायिकनिर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति) के आधार पर जान लेना चाहिए' ऐसा निर्देश है।^{५३} ज्ञातव्य है कि सामायिकनिर्युक्ति में बोटिकों का कोई उल्लेख नहीं है। उस निर्युक्ति में जो बोटिक मत के उत्पत्तिकाल एवं स्थल का उल्लेख है, वह प्रक्षिप्त है एवं वे भाष्य गाथाएँ हैं— यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि में निहितों की कालसूचक गाथाओं को निर्युक्तिगाथाएँ न कहकर आख्यानक सङ्घ्रहणी की गाथा कहा जाना भी,^{५४}— आवश्यकनिर्युक्ति में निहितों के उत्पत्तिनगर एवं उत्पत्तिकाल सूचक गाथाएँ मूलतः निर्युक्ति की गाथाएँ नहीं हैं, अपितु सङ्घ्रहणी अथवा भाष्य से उसमें प्रक्षिप्त की गयी हैं— मेरी इस मान्यता की पुष्टि करता है। क्योंकि इन गाथाओं में उनके उत्पत्ति नगरों एवं उत्पत्ति-समय दोनों की संख्या आठ-आठ है। इस प्रकार इनमें बोटिकों के उत्पत्तिनगर और समय का भी उल्लेख है। आश्चर्य यह है कि ये गाथाएँ सप्त निहितों की चर्चा के बाद दी गई— जबकि बोटिकों की उत्पत्ति का उल्लेख तो इसके भी बाद में है और मात्र एक गाथा में है। अतः ये गाथाएँ किसी भी स्थिति में निर्युक्ति की गाथायें नहीं मानी जा सकती हैं।

यदि बोटिक निहित सम्बन्धी गाथाओं को निर्युक्ति गाथाएँ मान भी लें तो भी निर्युक्ति के रचनाकाल की अपर सीमा को वीरनिर्वाण संवत् ६१० अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के पूर्वार्ध से आगे नहीं ले जाया जा सकता है क्योंकि इसके बाद का कोई उल्लेख हमें निर्युक्तियों में नहीं मिला। यदि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठीं सदी उत्तरार्द्ध) की रचनाएँ होतीं तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठीं सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे सङ्केत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता। अन्य कुछ भी नहीं तो मायुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख अवश्य होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु उनके बाद ही हुए हैं। वे वलभी वाचना के आयोजक देवद्विंशिंगणि के तो कनिष्ठ समकालिक हैं, अतः यदि वे निर्युक्तिकर्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते।

३. नैमित्तिक भद्रबाहु (छठीं सदी उत्तरार्द्ध) कृत निर्युक्तियों में गुणस्थान की अवधारणा अवश्य ही पाई जाती क्योंकि छठीं सदी के उत्तरार्द्ध तक गुणस्थान का उल्लेख मिलता है किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है निर्युक्तियों में गुणस्थान सम्बन्धी अवधारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति की जिन दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है,^{१५} वे मूलतः निर्युक्ति गाथाएँ नहीं हैं। आवश्यक मूल पाठ में चौदह भूतप्रामों (जीव-जातियों) का ही उल्लेख है, गुणस्थानों का नहीं, अतः निर्युक्ति तो चौदह भूतप्रामों की ही लिखी गयी। भूतप्रामों के विवरण के बाद दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं यद्यपि यहाँ गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। ये दोनों गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि हरिभद्र (आठवीं सदी) ने आवश्यकनिर्युक्ति को टीका में "अधुनामुमैव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकारः" कहकर इन दोनों गाथाओं को सङ्ग्रहणी गाथा के रूप में उद्घृत किया है।^{१६} अतः गुणस्थान सिद्धान्त के स्थिर होने के पश्चात् ये सङ्ग्रहणी गाथाएँ निर्युक्ति में मिला दी गई हैं। निर्युक्तियों में गुणस्थान अवधारणा की अनुपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी रचना तीसरी-चौथी सदी के पूर्व हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि निर्युक्तियों नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना नहीं हैं।

४. साथ ही आचाराङ्गनिर्युक्ति में आध्यात्मिक विकास की उन्हीं दस अवस्थाओं का विवेचन है^{१७} जो तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त हैं^{१८} और आगे चलकर जिनसे गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। तत्त्वार्थसूत्र तथा आचाराङ्गनिर्युक्ति दोनों विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं, जिससे यह फलित होता है कि निर्युक्तियों का रचनाकाल तत्त्वार्थसूत्र के सम-सामयिक (अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी सदी) है। इस प्रकार निर्युक्ति छठीं शती से उत्तरार्द्ध में होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना तो किसी स्थिति में नहीं हो सकती।

५. निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में मूलाचार^{१९} में उल्लेख तथा अस्वाध्याय काल में भी उनके अध्ययन का निर्देश यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व मूलाचार की रचना और यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व का था। निश्चित रूप से ५वीं सदी के अन्त तक यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आ जाने से निर्युक्तियाँ ५वीं सदी से पूर्व की रचनायें होनी चाहिए—ऐसी स्थिति में भी वे नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. छठीं सदी उत्तरार्द्ध) की कृति नहीं मानी जा सकती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आवश्यक शब्द की निर्युक्ति करते हुए नियमसार गाथा १४२ में निर्युक्ति का उल्लेख किया है।^{२०} आश्वर्य यह है कि यह गाथा मूलाचार के

षडावश्यक नामक अधिकार में यथावत् मिलती है। इससे भी यह फलित होता है कि निर्युक्तियों कम से कम नियमसार और मूलाचार की रचना के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्व अस्तित्व में आ गई थीं।

६. निर्युक्तियों के कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं हो सकते, क्योंकि आचार्य मल्लवादी (लगभग चौथी-पाँचवीं शती) ने अपने प्रन्थ 'नवचक्र' में निर्युक्तिगाथा का यह उद्धरण दिया है— निर्युक्ति — "बत्थूणं संकमणं होति अवत्थूणये समभिलङ्घे" जो इक्षित करता है कि बलभी वाचना के पूर्व निर्युक्तियों की रचना हो चुकी थी।

७. पुनः बलभी वाचना के आगमों के गद्यभाग में निर्युक्तियों और सद्ग्रहणी की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जैसे ज्ञाताधर्मकथा (मल्ली अध्ययन) में तीर्थजूर नाम-कर्म-बन्ध सम्बन्धी २० बोलों की गाथा मूलतः आवश्यकनिर्युक्ति (१७९-१८१) की गाथा है। इस प्रकार बलभी वाचना के सभी निर्युक्तियों और सद्ग्रहणीसूत्रों से अनेक गाथायें आगमों में डाली गई हैं। अतः निर्युक्तियों और सद्ग्रहणीयों बलभी वाचना की पूर्ववर्ती हैं।

८. निर्युक्तियों की सत्ता बलभी वाचना के पूर्व थी, तभी तो नन्दीसूत्र में आगमों की निर्युक्तियों का उल्लेख है। अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि के उपलब्ध एवं प्रकाशित हो जाने पर भी यह बात पुष्ट हो जाती है कि आगमिक व्याख्या के रूप में निर्युक्तियों बलभी वाचना के पूर्व लिखी जाने लगी थीं। इस चूर्णि में प्रथम अध्ययन की दशवैकालिकनिर्युक्ति की ५४ गाथाओं की भी चूर्णि की गई है। यह चूर्णि विक्रम की तीसरी-चौथी शती में रखी गई थी। इससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्तियों भी लगभग तीसरी-चौथी शती^{पुर्वी} की रचना हैं।

शातव्य है कि निर्युक्तियों में भी परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि अगस्त्यसिंहचूर्णि में दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की चूर्णि में मात्र ५४ निर्युक्ति गाथाओं की चूर्णि हुई है, जबकि वर्तमान में दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में १५१ गाथाएँ हैं।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि निर्युक्तियों बलभी वाचना के आगमपाठों के अनुरूप क्यों हैं? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि निर्युक्तियों का आगम पाठों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनकी विषय-वस्तु से है और यह सत्य है कि विभिन्न वाचनाओं में चाहे कुछ पाठ-भेद रहे हों, किन्तु विषय-वस्तु में एकरूपता रही है और निर्युक्तियों मात्र विषय-वस्तु का विलरण देती हैं। पुनः निर्युक्तियों मात्र प्राचीन स्तर के और बहुत कुछ अपरिवर्तित रहे आगमों पर ही हैं सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं। इन प्राचीन स्तर के आगमों का स्वरूप-निर्धारण

तो पहले ही हो चुका था। माथुरीवाचना या वलभी वाचना में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज जो निर्युक्तियाँ हैं वे मात्र आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकाहिनी इत्याश्रुतसूक्ष्म व्याख्यात लृहुत्तम पर हैं। ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन स्तर के हैं और इनके स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः वलभीवाचना से समरूपता के आधार पर निर्युक्तियों को उससे परवर्ती मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्ता न तो चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं और न वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु। यह भी सुनिश्चित है कि निर्युक्तियों की रचना छेदसूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है। साथ ही यह भी सत्य है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व आगमों की देवर्द्धि वाचना के पूर्वथा। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व आगमिक निर्युक्तियाँ अवश्य थीं। अतः यह अवधारणा भी ग्रान्त है कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठी सदी के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुई हैं।

यदि निर्युक्तियों के कर्ता श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु तथा वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु दोनों ही नहीं थे, तो फिर वे कौन से भद्रबाहु हैं जिनका नाम निर्युक्ति के कर्ता के रूप में माना जाता है। निर्युक्तिकर्ता के रूप में भद्रबाहु की अनुश्रुति जुड़ी होने से निर्युक्तियों का सम्बन्ध किसी 'भद्र' नाम व्यक्ति से अवश्य होना चाहिए और उनका अस्तित्व विक्रम की लगभग तीसरी-चौथी सदी के आस-पास होना चाहिए। नियमसार में आवश्यक की निर्युक्ति, मूलाचार में निर्युक्तियों के अस्वाध्याय काल में भी पढ़ने का निर्देश तथा उसमें और भगवती आराधना में निर्युक्तियों की अनेक गाथाओं की निर्युक्ति-गाथा के रूप में उल्लेखपूर्वक उपस्थिति यही सिद्ध करती है कि निर्युक्ति के कर्ता उस अविभक्त परम्परा के होने चाहिए जिससे श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों का विकास हुआ है। कल्पसूत्र स्थविरावली में प्राप्त आचार्य परम्परा में महावीर परम्परा में प्राचीनगोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु के अतिरिक्त दो अन्य भद्र नामक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—१. आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र, २. और ३. आर्य कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। सक्षेप में कल्पसूत्र की आचार्य परम्परा इस प्रकार है—

महावीर, गौतम, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शश्यभव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु (चतुर्दशपूर्वधर), स्थूलभद्र (ज्ञातव्य है कि भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र दोनों ही सम्भूतिविजय के शिष्य थे।), आर्य सुहसित, सुस्थित, इन्द्रदित्र, आर्यदित्र, आर्यसिंहगिरि, आर्यव्रज, आर्य वज्रसेन, आर्यरथ, आर्यपुष्पगिरि, आर्य फलगुमित्र, आर्य धनगिरि, आर्यशिवभूति, आर्यभद्र (कायशपगोत्रीय), आर्यकृष्ण, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्षित, आर्यनाग,

आर्य ज्येष्ठिस, आर्यविष्णु, आर्यकालक, आर्यसम्पालित, आर्यभद्र (गौतमगोत्रीय), आर्यवृद्ध, आर्य सहृपालित, आर्यहस्ती, आर्यधर्म, आर्यसिंह, आर्यधर्म, घण्डिल्य (सम्बवतः स्कन्दिल, जो मायुरी वाचना के वाचना प्रमुख थे) आदि। गाथाबद्ध स्थविरावली में इसके बाद जम्बू, नन्दिल, दुष्टगणि, स्थिरगुप्त, कुमारधर्म एवं देवदिक्षिपकश्रमण के पाँच नाम और हैं।^{७३}

ज्ञातव्य है कि नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठी शती के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न) का नाम इस सूची में सम्प्लित नहीं हो सकता है क्योंकि यह सूची बार निर्वाण सं. २८० अर्थात् सं. ५१० में अपना अन्तिम रूप ले चुकी थी।

इस स्थविरावली से जैन परम्परा में विक्रम की छठी शती के पूर्वार्ध तक होने वाले भद्र नामक तीन आचार्यों के नाम मिलते हैं— प्रथम, प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु, दूसरे आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्य भद्रगुप्त, तीसरे आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। बराहमिहिर के प्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को लेकर यह संख्या चार हो जाती है। इस निष्कर्ष पर हम पहुंच चुके हैं कि इनमें से प्रथम एवं अन्तिम को तो निर्युक्तिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अब शिवभूति के शिष्य आर्य भद्रगुप्त और आर्यकालक के शिष्य आर्यभद्र शेष बचते हैं। इनमें पहले हम आर्य धनगिरि के प्रशिष्य एवं आर्यशिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त के निर्युक्तिकार होने की सम्भावना पर विचार करते हैं—

क्या आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्ता हैं?

निर्युक्तियों को शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की रचना मानने के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

१. निर्युक्तियों उत्तर भारत के निर्बन्ध सङ्ग से विकसित थेताम्बर एवं यापनीय दोनों सम्प्रदायों में मान्य रही हैं। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में शताधिक निर्युक्ति गाथाएँ उद्धृत होने और उसमें अस्वाध्याय काल में निर्युक्तियों के अध्ययन करने का निर्देश होने से फलित होता है कि निर्युक्तियों की रचना मूलाचार से पूर्व हो चुकी थी।^{७४} मूलाचार की छठी सदी की रचना भी मानें तो उसके पूर्व निर्युक्तियों मूलरूप से अदिभक्त धारा में निर्मित हुई थीं। चूंकि यापनीय सम्प्रदाय के रूप में परम्परा भेद तो शिवभूति के पक्षात् उनके शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से हुआ है अतः निर्युक्तियों शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त की रचना मानी जा सकती है, क्योंकि वे न केवल अदिभक्त धारा में हुए, अपितु लगभग उसी काल में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में हुए हैं, जो कि निर्युक्ति का रचनाकाल है।

२. आचार्य भद्रगुप्त को उत्तर भारत की अचेल परम्परा का पूर्वपुरुष दो निम्न आधारों पर माना जा सकता है। प्रथम, कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार आर्यभद्रगुप्त आर्यशिवभूति के शिष्य हैं। इसी शिवभूति का आर्यकृष्ण से मुनि की उपस्थि (वस्त्र-पात्र) के प्रश्न पर विवाद हुआ था और इन्होंने अचेलता का पक्ष लिया था। कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यकृष्ण और आर्यभद्र दोनों को आर्य शिवभूति का शिष्य कहा गया है। आर्यभद्र को आर्यवज्र एवं आर्यरक्षित के शिक्षक के रूप में मैं खेताम्बरों और शिवभूति के शिष्य के रूप में यापनीय परम्परा में मान्यता मिली है। आर्यशिवभूति के शिष्य होने के कारण आर्यभद्र भी अचेलता के पक्षधर होंगे और इसलिए उनको कृतियाँ यापनीय परम्परा में मान्य रही होंगी।

३. विदिशा से प्राप्त एक अभिलेख में भद्रान्वय एवं आर्यकुल का उल्लेख है—

शमदमक्षान् चीकरत् (॥) आचार्य - भद्रावन्वयभूषणस्य

शिष्योऽहसावार्यकुलोद्गतस्य (।) आचार्य - गोश

(जौशि०सं०, २, पृ० ५७)

सम्भावना यही है कि भद्रान्वय एवं आर्यकुल का विकास इन्हीं आर्यभद्र से हुआ हो। यहाँ के अन्य अभिलेखों में मुनि का 'पाणितलभोजी' यह विशेषण इक्षित करता है कि केन्द्र अचेल धारा का था। पूर्वज आचार्य भद्र की कृति होने के कारण निर्युक्तियाँ यापनीयों में भी मान्य रही होगी। परवर्ती एवं विकसित ओघनिर्युक्ति या पिण्डनिर्युक्ति में भी दो चार प्रस्त्रों के अतिरिक्त कहीं भी वस्त्र-पात्र का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यह इस तथ्य का भी सूचक है कि निर्युक्तियों के काल तक वस्त्र-पात्र आदि का समर्थन उस रूप में नहीं किया जाता था, जिस रूप में परवर्ती खेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ। वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्ति की मान्यता भगवतीआराधना एवं मूलाचार से अधिक दूर नहीं है। आचाराङ्गनिर्युक्ति में आचाराङ्ग 'वस्त्रैषणा' अध्ययन की निर्युक्ति केवल एक गाथा में है और 'पात्रैषणा' पर कोई निर्युक्ति गाथा नहीं नहीं है। अतः वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्तियों के कर्ता आर्यभद्र की स्थिति भी भथुरा के साधु-साध्यियों के अङ्गुन से अधिक पित्र नहीं हैं। अतः निर्युक्तिकार के रूप में आर्य भद्रगुप्त को स्वीकार करने में निर्युक्तियों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख अधिक बाधक नहीं हैं।

४. आर्यभद्र के निर्यापिक (समाधिमरण कराने वाले) आर्यरक्षित माने जाते हैं। निर्युक्ति और चूर्ण दोनों के अनुसार आर्यरक्षित अचेलता के पक्षधर थे। उन्होंने प्रारम्भ में अचेल दीक्षा ग्रहण करना नहीं चाहने वाले अपने पिता को योजनापूर्वक

अचेल बना दिया था। चूर्णि में प्राप्त कठियद्वक की बात शेताम्बर पक्ष की पुष्टि हेतु सम्प्रसित की गयी प्रतीत होती है।

भद्रगुप्त को निर्युक्ति का कर्ता मानने के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयाँ हैं :—

१. आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्याप्त माने गये। आवश्यकनिर्युक्ति आर्यरक्षित की विस्तार से चर्चा करती है और आदरपूर्वक स्मरण करती है। भद्रगुप्त आर्यरक्षित से दीक्षा में ज्येष्ठ है, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा रचित निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का उल्लेख इतने विस्तार से एवं इतने आदरपूर्वक नहीं आना चाहिए। यद्यपि परवर्ती उल्लेख एकमल से यह मानते हैं कि आर्यभद्रगुप्त की निर्याप्तना आर्यरक्षित ने करवायी, किन्तु मूल गाथा को देखने पर इस मान्यता के बारे में किसी को सन्देह भी हो सकता है, मूल गाथा निम्नानुसार है—

निजज्वण भद्रगुप्ते वीसुं पद्मणं च तस्स पुष्ट्वगायं ।

पञ्चाविओ व गाथा रविष्ट्वा अख्ययणोऽहिं अणाओ अ ॥ — आवश्यकनिर्युक्ति, ७७६ ।

यहाँ “निजज्वण भद्रगुप्ते” में यदि “भद्रगुप्ते” को आर्य प्रयोग मानकर कोई प्रथमाविभक्ति में समझे तो इस गाथा के प्रथम दो चरणों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है— भद्रगुप्त ने आर्यरक्षित की निर्याप्तना की और उनसे समस्त पूर्वगत साहित्य का अध्ययन किया।

गाथा के उपरोक्त अर्थ को स्वीकार करने पर निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का बहुमान पूर्वक उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति ने आर्यरक्षित की निर्याप्तना करवायी हो और जिनसे पूर्वों का अध्ययन किया वह उनका अपनी कृति में सम्मानपूर्वक उल्लेख करेगा ही। किन्तु गाथा का इस दृष्टि से किया गया अर्थ चूर्णि में प्राप्त कथानकों के साथ एवं निर्युक्ति गाथाओं के पूर्वापर प्रसङ्ग को देखते हुए किसी भी प्रकार सङ्केत नहीं माना जा सकता है। चूर्णि में तो यही कहा गया है कि आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्याप्तना करवायी और आर्यवज्र से पूर्वसाहित्य का अध्ययन किया। यहाँ दूसरे चरण में प्रयुक्त “तस्स” शब्द का सम्बन्ध आर्यवज्र से है, जिनका उल्लेख पूर्व गाथाओं में किया गया है। साथ ही यहाँ ‘‘भद्रगुप्ते’’ में सप्तमी का प्रयोग है, जो एक कार्य को समाप्त कर दूसरा कार्य प्रारम्भ करने की स्थिति में किया जाता है। यहाँ सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा— आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्याप्तना (समाधिमरण) करवाने के पश्चात् (आर्यवज्र से) समस्त पूर्वों का अध्ययन किया है और अपने भाई और पिता को दीक्षित किया। यदि आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्याप्तक हैं और वे ही निर्युक्तियों के कर्ता भी हैं, तो फिर निर्युक्तियों में

आर्यरक्षित द्वारा उनका निर्यापिन करवाने के बाद किये गये कार्यों का उल्लेख नहीं होना था। किन्तु ऐसा उल्लेख है, अतः निर्युक्तियाँ काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की छृति नहीं हो सकती हैं।

२. एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवंश के पश्चात् आठवीं पीढ़ी में आर्यरक्षित हुए हैं। अतः यह सम्भव नहीं है कि अपने से आठ पीढ़ी पूर्व उल्पन्न आर्यवंश से पूर्वों का अध्ययन किया गया हो। इससे कल्पसूत्र स्थविरावली में दिये गये क्रम में सन्देह होता है, हालांकि कल्पसूत्र स्थविरावली एवं अन्य स्रोतों से इतना तो निश्चित होता है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित से पूर्व में हुए हैं। उसके अनुसार आर्यरक्षित आर्यभद्रगुप्त के प्रशिष्य हैं। कथानकों में आर्यरक्षित को तोषलिपुत्र का शिष्य कहा गया है। हो सकता है कि तोषलिपुत्र आर्यभद्रगुप्त के शिष्य रहे हों। स्थविरावली में उल्लिखित है कि आर्यभद्र के शिष्य आर्यरक्षित थे। इसप्रकार इतना निश्चित है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित के पूर्ववर्ती या उपेत्त समकालिक हैं। ऐसी स्थिति में यदि निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त के समाधिमरण के पश्चात् की आर्यरक्षित के जीवन की घटनाओं का विवरण देती हैं, तो उन्हें शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त की कृति नहीं माना जा सकता।

आर्यभद्र को निर्युक्ति के कर्ता के रूप में स्वीकार करने पर आर्यरक्षित, अन्तिम निष्ठुव एवं बोटिकों का उल्लेख करने वाली निर्युक्ति गाथाओं को प्रक्षिप्त मानना अपरिहार्य हो जायगा। आर्यरक्षित को आर्यभद्रगुप्त का निर्यापिक स्वीकार करें तो आर्यभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० ५६० के आस-पास मानना होगा। इसके दो आधार हैं। प्रथम तो आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापिना अपने युवावस्था में ही करवायी थी और दूसरे तब वीर निर्वाण सं० ५८४ (विक्रम की द्वितीय शताब्दी) में स्वर्गवासी होने वाले आर्यवंश जीवित थे। ऐसी स्थिति में निर्युक्तियों में अन्तिम निष्ठुव का कथन भी सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि अबद्धिक नामक सातवाँ निष्ठुव वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः आर्यरक्षित सम्बन्धी ही नहीं अपितु अन्तिम निष्ठुव एवं बोटिकों सम्बन्धी विवरण भी निर्युक्तियों में प्रक्षिप्त मानना होगा। ऐसा न मानने पर काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्ता भी नहीं हो सकते हैं। निष्कर्षतः अन्य किसी भद्र नामक आचार्य की खोज करनी होगी।

क्या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्ता हैं?

काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त के पश्चात् कल्पसूत्र पट्टावलि में गौतमगोत्रीय आर्यकालक के शिष्य और आर्य सम्पालित के गुरुभाई आर्यभद्र का भी उल्लेख मिलता है।^{१२} आर्यभद्र आर्यविष्णु के प्रशिष्य एवं आर्यकालक के शिष्य हैं। इनके शिष्य के रूप

में आर्य वृद्ध का उल्लेख है। यदि आर्यवृद्ध को वृद्धवादी से समीकृत करें तो आर्यभद्र सिद्धसेन के दादा गुरु सिद्ध होते हैं। विचारणीय है क्या आर्यभद्र भी स्पष्ट सह्य-भेद अर्थात् स्तेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर सम्प्रदायों के नामकरण के पूर्व हुए हैं। निर्युक्तियों यापनीय और देवाम्बर दोनों में पाय होने से यह सुनिश्चित है कि सम्प्रदाय-भेद के पश्चात् का कोई भी आचार्य निर्युक्तियों का कर्ता नहीं हो सकता। यदि वे किसी सम्प्रदाय विशेष की कृति होतीं तो अन्य सम्प्रदाय उसे मान्य नहीं करता। यदि आर्य विष्णु को दिगम्बर पट्टाखली में उल्लिखित आर्य विष्णु से समीकृत करें तो इनकी निकटता अचेल परम्परा से स्थापित की जा सकती है। दूसरे, विदिशा के अभिलेख में उल्लिखित भद्रान्वय एवं आर्यकुल का सम्बन्ध इन गौतमगोत्रीय आर्यभद्र से भी माना जा सकता है क्योंकि इसका काल भी स्पष्ट सम्प्रदाय-भेद एवं उस अभिलेख के पूर्व है। दुर्भाग्य से इनके सन्दर्भ में आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं कोई विवरण नहीं मिलता, केवल नाय-साम्य के आधार पर इनके निर्युक्तिकार होने की 'सम्भावना' व्यक्त कर सकते हैं।

इनकी विद्वता एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी आगमिक उल्लेखों का अभाव है, किन्तु वृद्धवादी जैसे शिष्य और सिद्धसेन जैसे प्रशिष्य के गुरु विद्वान् अवश्य रहे होंगे, इसमें शङ्का नहीं की जा सकती। इनके प्रशिष्य सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख दिगम्बर और यापनीय आचार्य भी करते हैं, अतः इनकी कृतियों को उत्तर भारत की अचेल परम्परा में मान्यता मिली हो ऐसा माना जा सकता है। ये आर्यरक्षित से पाँचवीं यीढ़ी में माने गये हैं। अतः इनका काल इनके सौ-डेव सौ वर्ष पश्चात् ही होगा अर्थात् ये भी विक्रम की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध या चौथी के पूर्वार्द्ध में कभी हुए होंगे। लगभग यही काल माधुरीवाचना का भी है। चूंकि माधुरीवाचना यापनीयों को भी स्वीकृत रही है, इसलिए इन कालके शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तियों का कर्ता मानने में काल एवं परम्परा की दृष्टि से कठिनाई नहीं है।

यापनीय और स्तेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में निर्युक्तियों की मान्यता पर भी इससे कोई वादा नहीं आती, क्योंकि ये आर्यभद्र, आर्य नक्षत्र एवं आर्य विष्णु के ही परम्परा शिष्य हैं। सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा के आर्यनक्षत्र और आर्यविष्णु की परम्परा में उद्भूत जिस भद्रबाहु के दक्षिण में जाने का उल्लेख मिलता है और जिनसे अचेल धारा में भद्रान्वय और आर्यकुल का आविभाव हुआ हो वे यही आर्यभद्र हों। इन्हें निर्युक्तियों का कर्ता मानने पर नन्दीसूत्र एवं पाशिकसूत्र में निर्युक्तियों का उल्लेख होना भी युक्तिसङ्गत सिद्ध हो जाता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निर्युक्तियों के कर्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य सम्पालित के गुरुभाता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि मैं इस निष्कर्ष को अन्तिम न मानकर इतना अवश्य कहूँगा कि इन आर्यभद्र को निर्युक्ति का कर्ता स्वीकार करने पर प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु, काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वाराहमिहिर के प्राता नैपितिक भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्ता मानने पर आने वाली अनेक विश्वतिपत्तियों से बच सकते हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेलधारा में निर्युक्तियाँ संरक्षित नहीं रह सकीं, मात्र भगवती आराधना, मूलाचार और कुन्तकुन्द के ग्रन्थों में उनकी कुछ गाथायें ही अवशिष्ट हैं। इनमें भी मात्र मूलाचार ही लगभग सौ निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में उल्लेख करता है। दूसरी ओर सबेल धारा में उपलब्ध निर्युक्तियों में अनेक भाष्यगाथाएँ भिक्षित हो गई हैं। इसकारण उपलब्ध निर्युक्तियों में भाष्य गाथाओं एवं प्रक्षिप्त गाथाओं को अलग करना एक कठिन कार्य हो गया है, किन्तु यदि एक बार निर्युक्तियों के रचनाकाल, उसके कर्ता तथा उनकी परम्परा का निर्धारण हो जाय, तो यह कार्य सरल हो सकता है।

आशा है जैन विद्या के निष्पक्ष विद्वानों की अगली पीढ़ी इस दिशा में और भी अन्वेषण कर निर्युक्ति साहित्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेगी। प्रस्तुत लेखन में मुनि श्री पुण्यविजयजी का आलेख मेरा उपजीव्य रहा है। आचार्य हस्तीमल जी ने 'जैनर्थम् के मौलिक इतिहास' के लेखन में भी उसी का अनुसरण किया है। मैं उक्त दोनों मनीषियों के निष्कर्षों से सहपत नहीं हो सका। यापनीय सम्प्रदाय पर ग्रन्थ-लेखन के समय कुछ नई समस्यायें और समाधान दृष्टिगत हुए। इन्हीं के प्रकाश में मैंने कुछ नवीन स्थापनायें प्रस्तुत की हैं, ये सत्य के कितनी निकट हैं, यह विचार करना विद्वानों का कार्य है। मैं अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानता हूँ, अतः सदैव उनके विचारों एवं सभीक्षाओं से लाभान्वित होने का प्रयास करूँगा।



सन्दर्भ :

१. अ. निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुती ।

— आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबावल), गाथा ८८।

ब. सूत्रार्थयोः परस्परनिर्युक्तिं जनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः

— आवश्यकनिर्युक्तिटीका हरिभद्र, गाथा ८३ की टीका।

२. अत्थाणं उग्रहणं अवग्रहं तह विआलणं इहं।
— आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबाबल) ३।
३. इहा अपोह वीर्मसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्ण सई मई पण्णा सब्बे आभिनिबोहियं ॥
— आवश्यकनिर्युक्ति, वही, १२।
४. आवस्सागस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्ञामायरे ।
सूयगडे निज्जुतिं बुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुतिं वनहमरर्लेय परण्णि पादः ।
सूरिअपण्णतीए बुच्छे इसिभासियाणं च ॥
— आवश्यकनिर्युक्ति, वही ८४-८५।
५. इसिभासियाइ, भूमिका, ग्रो० सागरमल जैन, (श्राकृत भारती, जयपुर), पृ० १३।
६. बृहत्कथाकोश (सिंधी जैन ग्रन्थमाला), प्रस्तावना, ऐ० एन० उपाध्ये, पृ० ३१।
७. आराधना....तस्या निर्युक्तिराधनानिर्युक्तिः । — मूलाचार, पञ्चाचाराधिकार, गा० २७९ की टीका (भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४)।
८. गोविदाणं पि नपो अणुओगे विउलधारणिदाणं।
— नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा० ४१।
९. व्यवहारभाष्य, भाग ६, गा० २६७-२६८।
१०. सो य हेउगोबएसो गोविंदनिज्जुतिमादितो... ।
दरिसणप्पभावगणि सत्थाणि जहा गोविंदनिज्जुतिमादी ।
— आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३५३, भाग २, पृ० २०१, ३२२।
११. गोविंदो... पञ्चातेण एण्डिय जीब साहणे गोविंद निज्जुतिकया ।
— निशीथभाष्य गाथा ३६५६, निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २६०।
१२. नन्दीसूत्र, (व्यावर) स्थविरावली गाथा ४१।
- १३अ. श्राकृतसाहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, पृ० १९० ।
- ब. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ० ६।
१४. आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबाबल), गाथा ८४-८५।
१५. वही, गाथा ८४।
१६. बहुरय पएस अव्वत्समुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।
सतोए णिणहगा खलु तित्वंमि उ वद्धमाणस्स ॥

बहुर जमालिपभवा जीवपएसा ये तीसगुत्ताओ ।
 अब्बत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
 गंगाओ दोकिरिया छलुगा तरासियाण उप्पत्ती ।
 थेराय गोद्धमाहिल पुड्डमबद्दं पर्लविति ॥
 सावत्यी उसभपुरं सेयविया मिहिल डल्लुगातीरं ।
 पुरिमंतरंजि दसपुर-रहवीरपुरं च नगराइ ॥
 चोद्दस सोलस वासा चोद्दसवीमुत्तरा य दोण्णि सथा ।
 अद्वावीसा य दुवे पंचेव सथा ड चोयाला ॥
 पंच सथा चुलसीया छच्चेव सथा णबोत्तर होति ।
 णाणुपत्तीय दुवे उप्पणा णिव्वुए सेसा ॥
 एवं एए कहिया ओसप्पिणीए उ निष्ठका सत्त ।
 वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पव्वयणे णत्यि ॥

— आवश्यकनिर्दुक्तिग्रामा ७७८-७८४।

१७. बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
 अब्बत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
 गंगाए दोकिरिया छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
 थेरा य गुड्डमाहिल पुड्डमबद्दं पर्लविति ॥
 जिड्डा सुंदंसण जमालि अणुज्ज सावत्यि तिंदुगुज्जाणे ।
 पंच सथा य सहस्सं छकेण जमालि मुतूण ॥
 रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुच्चि तीसगुत्ताओ ।
 आमलकप्पा नयरि मित्तसिरी कूरपिङ्डादि ॥
 सियवियपोलासाढे जोगे तद्विसहिययसूले य ।
 सोहम्म नालणगुम्मे रायगिहे पुरिय बलभदे ॥
 मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो ॥ ३ ॥
 णोडणमणुप्पवाए रायगिहे खंडरकखा य ॥
 नइखेड्जणव डल्लंग महगिरि धणगुत अज्जगंगे य ।
 किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ॥
 पुरिमंतरंजि भयुगुह बलसिरि सिरिगुत रोहगुते य ।
 परिवाय पुड्डसाले घोसण पड्डसेहणा वाए ॥

विच्छुय सप्ये मूसग मिगी वशही य कागि पोयाइं ।
 एयाहिं विज्ञाहिं सो उ परिव्यायगो कुसलो ॥
 मोरिय नडलि बिराली वर्णी सीही य ढलुगि ओवाइ ।
 एयाओ विज्ञाओ गिणह परिव्यायमहणोओ ॥
 दसपुरनगरच्छुधरे अज्जरविरुद्ध्य पुसमितत्तियर्ग च ।
 गुद्धामहिल नव अटु सेसपुच्छा य विझस्स ॥
 पुढो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेह ।
 एवं पुढुमबद्धं जीवं कमं समन्नेह ॥
 पच्चवक्खाणं सोरं अपरिष्ठाणे होइ क्षायक्षं ।
 जेसि तु परीभाणं तं दुडं होइ आसंसा ॥
 रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकणे अ ।
 सिवभूद्दस्सुवहिंमि पुच्छा थेराण कहणा य ॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, १६५-१७८।

१८. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २९।
 १९. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३०९-३२६।
 २०. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २०७।
 २१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६१-१६३।
 २२. आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा ५।
 - २३अ. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ७९-८८।
 - ब. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १४३-१४४।
 २४. जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुति पगये तु भावेणं ।
देसविमुक्का साहू सख्खिमुक्का भवे सिद्धा ॥
- आचाराङ्गनिर्युक्ति, ३३१।
२५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ४८७-९२।
 २६. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा ९९।
 २७. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३।
 २८. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा १२७।
 २९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २६७-२६८।

३०. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गाथा १।
३१. तहवि य कोई अत्थो उप्पजति तंमि तंमि समयंमि ।
पुञ्चभणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिएसु जहा ॥
- सूक्तकृतानन्दनिर्युक्ति, गाथा १८९।
- ३२क. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठि विभाग, आत्मानन्द जैन सभा भावनगर, प्रस्तावना,
पृ० ४, ५।
३३. वही, आमुख, पृ० २।
- ३४क. मूढणइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं ।
अपुहुते समोयारो, नत्यं पुहुते समोयारो ॥
जावंति अज्जवहरा, अपुहुतं कालियाणुओगे य ।
तेणाऽऽरेण पुहुतं, कालियसुय दिङ्गिवाए य ॥
- आदरदकनिर्युक्ति, गाथा ७६८-७६९।
- ख. तुंबवणासन्निवेसाओ, निगर्यं पिडसगासमल्लीणं ।
छम्मासियं छसु जयं, माऊय समन्नियं वदे ॥
जो गुज्जाएहि बालो, निमंतिओ भोयणेण वासते ।
णेच्छड विणीयविणाओ, तं बइररिसं णमंसामि ॥
उज्जेणीए जो जंभर्गेहि आणकिखलण थुयमहिओ ।
अकखीणमहाणसियं सीहगिरिपसंसियं वदे ॥
जस्स अणुण्णाए वायगतणे दसपुराण्ण णयरम्मि ।
देवेहि कया महिमा, पवाणुसारि णमंसामि ॥
जो कन्नाइ धणेण य, णिमंतिओ जुञ्बणम्मि गिरुवहणा ।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं बइररिसं णमंसामि ॥
जणुद्धारआ विज्जा, आगासगमा महारिण्णाओ ।
वदामि अज्जवहर, अपच्छमो जो सुयहरणं ॥
- वही, गाथा ७६४-७६९।
- ग. अपुहुते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहुताणुओगकरणे, से अत्यं तओ उ वोच्छन्ना ॥
देविदर्वदिएहि, महाणुभागेहि रविखअज्जोहि ।
जुगुमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चठहा ॥

माया य रुद्धसोमा, पिया य नामेण सोमदेवं त्ति ।
 भाया य फग्गुरविख्यय, लोसलिपुता य आयरिआ ॥
 णिजजवणभद्गुते, वीर्स पद्धणं च तस्स पुव्वगयं ।
 पव्वविओ य भाया, रविखअखमणोहि जणओ य ॥

— वही, गाथा ७७३-७७६ ।

- ३५ जह जह पएसिणी जाणुगम्मि यालित्तओ भमाडेइ ।
 तह तह सौसे वियणा, पणस्मइ मुरुङ्डरायस्स ॥

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ४३८ ।

३६. नइ कण्ह-वित्र दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति ।
 पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तार सबक्कारे ॥
 जण सावगाण खिंसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
 सावय पथतकरण, अविणय लोए चलण धोए ।
 पडिलाभिय वच्चंता, निष्कुङ्कु नइकूलमिलण समियाओ ।
 किंहिय पंच सया तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ५०३-५०५ ।

३७अ. वही, गाथा ५०५ ।

ब. नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६ ।

स. मयुरा के अभिलेखों में इस शाखा का उल्लेख ब्रह्मदासिक शाखा के रूप में मिलता है।

३८. उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए ।
 इंदो आउवसेय, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥

— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ११९ ।

३९. अरहंते वंदिता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी ।

एककारसंगसुत्तत्वधारए सव्वसाहू य ॥ — ओषधनिर्युक्ति, गाथा १ ।

४०. ओषधनिर्युक्ति सम्या० विजयसूरीश्वर, जैन प्रस्थमाला, गोपीपुरा, सूरत, पृष्ठ ३-४ ।

४१. जेणुङ्करिया विज्जा आगासगमा महापरिश्राओ ।
 वंदामि अजजवइरं अपच्छमो जो सुअहराणं ॥

— आवश्यकनिर्युक्तिगाथा, ७६९ ।

४२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७६३-७७४।
४३. अपुहुतपुहुताइं निदिसिं एत्थ होइ अहिगारो ।
चरणकरणाणुओगेण तस्म दाय इमे हुंति ॥
- दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४
४४. ओहेण उ निजुति वुच्छं चरणकरणाणुओगेणो ।
अप्पक्षुद्वरं महत्यं अणुग्रहत्यं सुविहियाणं ॥
- ओघनिर्युक्ति, गाथा २।
४५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७७८-७८३।
४६. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १६४-१७८।
४७. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।
एते तित्रिव देसा दब्ख्यमि य पोडरीयस्स ॥
- सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा १४६।
४८. उत्तराध्ययन टीका शान्त्याचार्य, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम् भाष्य, षष्ठ विभाग
प्रस्तावना, पृ० १२।
४९. वही, पृ० ९।
५०. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, षष्ठविभाग, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, पृ० ११।
५१. साव॑त्थी उसम॑पुर सेय॑विदा मिहिल॑उल्लुगातीर॑ ।
पुदिमत॑रजि दस॑पुर रहवीर॑पुर च नगराइ ॥
चोह॑स सोल॑स वासा चोहसवीसु॑त्तरा॑देण्णि सया ।
अहुवीसो॑या दुवे पंचेष सया॑उ चोयाला ॥
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८१-८२
५२. रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकणहे अ ।
सिवभूइस्सुविहिमि पुच्छा योराण कहणा य ॥
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १७८।
५३. सवयं चतुर्दशपूर्विल्लेऽपि यच्चतुर्दशपूर्वुपादानं तत् तेषामपि चट्स्यानपतितत्वेन
शेषमाहात्म्यस्यापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त
इति प्रेयनिवकाश एवेति ॥ — उत्तराध्ययनटीका, शान्त्याचार्य, गाथा २३३।
५४. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।
एते तित्रिव देसा दब्ख्यमि य पोडरीयस्स ॥ — सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा १४६

५५. ये चादेशः यथा— आर्यमङ्गुरावार्यस्थिविधं शङ्खमिच्छति- एकभविकं बद्धायुज्ञम्-
भिमुखनामगोत्रं च, आर्यसमुद्रो द्विविधम् - बद्धायुज्ञमभिमुख- नामगोत्रं च,
आर्यसुहस्ती एकम् - अभिमुखनाम गोत्रभित्तिः ।
— बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य भाग- १, गाथा १४४।
५६. वही, षष्ठविभाग, पृ. १५-१७।
५७. आकश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५२-१२६०।
५८. वही, गाथा ८५।
५९. जत्य य जो पण्णकओ कस्सवि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।
जसोमुहो य ढाई सा पुच्छा पच्छवो अवरा ॥
— आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा ५१।
६०. सप्ताश्चिवेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अष्टास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥
— पञ्चसिद्धान्तिका, उद्घृत बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य, षष्ठविभाग, प्रस्तावना
पृ. १७।
६१. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।
६२. गोविदो नाम भिक्खु...
पच्छा तेण एग्मिदियज्ञीवसाहणं गोविदनिज्जुती कया ॥ एस नाणतेणो ॥
— निशीथचूर्णि, भाग ३, उद्देशक ११, सन्मति शानपीठ, आगरा,
पृ. २६०।
- ६३अ. गोविदाणं पि नमो, अणुओगे विडलधारणिदाणं ।
णिच्चं खंतिदयाणं पर्हवणे दुलभिदाणं ॥—नन्दीसूत्र, गाथा ८१।
- ब. आर्य स्कन्दिल
 ↓
 आर्य हिमवंत
 ↓
 आर्य नागार्जुन
 ↓
 आर्य गोविन्द
 — देखें, नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६-४१।

६४. पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविंदणिज्जुती कया। एस णाणा तेणोः एव
दंसणपभावगसत्थट्टा । — निशीथचूर्णि, पृ० २६० ।
६५. निष्ठव्याण वत्तव्यवा भाणियब्दा जहा सामाइयनिज्जुतीए ।
— उत्तराध्ययनचूर्णि, जिनदासगणिमहत्तर, वि०सं०, १९८९, पृ० ९५।
६६. इदाणि एतेसिं कालो भण्णति 'चउद्दस सोलास वीसा' गाहाड दो, इदाणि
भण्णति- 'चोद्दस वासा तइया गाथा अकखाण्यथसेगहर्णा। — वर्हा, पृ० ९५।
६७. मिच्छद्विसासायणे य तह सम्मिच्छद्विये ।
अविरयसम्मद्विये विरयाविरए पमते य ॥
तत्तो य अप्पमत्तो नियद्वि अनियद्वि बायरे सुहुमे ।
उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥
— आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसद्व्याह, पृ० १४०)।
६८. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग २, भेरुलाल कन्हैया लाल कोठारी धार्मिक
ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं० २५०८, पृ० १०६-१०७।
६९. सम्मतुपत्ती सावए य विरए अण्णतकम्मसे ।
दंसणमोहकखवए उवसामते य उवसते ॥
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्ञा ।
तत्त्विवरीओ कालो संखञ्जुगुणाइ सेढीए ॥
— आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा २२२-२२३।
७०. सम्यादृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनिमोहक्षपकोपशमकोपशान्ता-
मेहक्षपकक्षीण मोहजिना क्रमशोऽसंदर्भ्येयगुणनिर्जरा ॥
— तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) मुखलाल संघवी, ९/४७।
- ७१अ. णिज्जुती णिज्जुती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्यार पंसगोऽणियोगदो होदि णादब्बो ॥
आवासगणिज्जुती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं, जादि विसुद्धप्पा ॥
— मूलाचार (भारतीय शानपीठ) ६९१-६९२
...एसो अणो गंथो कप्पदि पछिर्दु असज्जाए ।
आगहणा णिज्जुति मरणविभत्ती य संगहत्युदिओ ।
पच्चवक्खाणावसय धमकहाओ एरिस ओ ॥
—मूलाचार, २७८-२७९।

- ब. ण वसो अवसो अवसस्कम्भावस्सर्वति बोधवा ।
 जुति ति उवाऽति ण णिरवयबो होदि णिज्जुती ॥ — वही, ५१५।
७२. ण वसो अवसो अवसस्स कम्भ वावस्सर्व ति बोधवा ।
 चुति ति उवाऽति व विवेष्मले होदि णिज्जुती ॥
 — नियमसार, गाथा १४२, लखनऊ, १९३१
७३. देखें— कल्पसूत्र, स्थविरावली विभाग ।
७४. देखें— मूलाचार, पठावश्यक-अधिकार ।
७५. थेरस्स णं अज्ज विन्हुस्स माढरस्सगुत्स्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगुते
 थेरस्सणं अज्जकालस्स गोयमसगुत्स्स इमे दुबे थेरा अंतेवासी गोयमसगुते
 अज्ज संपलिए थेरे अज्जभदे, एएसि दुन्हवि गोयमसगुताणं अज्ज बुझे थेरे।
 — कल्पसूत्र (मुनि प्यारचन्दजी, रतलाम) स्थविरावली, पृ. २३३।



प्रथम अध्याय

छेदसूत्रागम और दशाश्रुतस्कन्ध

वर्तमान समय में उपलब्ध जैन आगम साहित्य अङ्ग, उपास, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक और चूलिका सूत्र में वर्णीकृत है। इस वर्णीकरण के अनुसार ग्यारह अङ्ग, बारह उपास, चार मूलसूत्र, छः छेदसूत्र, दस प्रकीर्णक और दो चूलिका सूत्र हैं। पैतालीस आगमों की यह मान्यता शेताम्बरों के मूर्तिपूजक सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। दिगम्बर परम्परा आगमों का सर्वथा विच्छेद मानती है। घबला^१ के अनुसार दिगम्बरों में किसी समय बारह अङ्ग और चौदह अङ्गबाह्य अर्थात् २६ आगमों की मान्यता थी।^२ पैतालीस आगमों के नाम इसप्रकार हैं—

अङ्ग

१. आयारे (आचाराङ्ग), २. सूयगड (सूत्रकृताङ्ग), ३. ठाण (स्थानाङ्ग),
४. समवाय (समवायाङ्ग), ५. वियाहप्रश्नति (व्याख्याप्रश्नप्ति या भगवती),
६. नायाधर्मकहाओ (ज्ञानाधर्मकथाः), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशाः),
८. अंतगडदसाओ (अन्तकृदशाः), ९. अनुतरोववाइयदसाओ (अनुतरैपपातिकदशाः),
१०. पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्)
१२. और दिङ्डिवाय (दृष्टिवाद), जो विच्छिन्न माना जाता है।

उपास

१. उववाइयं (औपपातिक), २. रायपसेणहजं (राजप्रसेनजित्क), अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीय), ३. जीवाजीवाभिगम, ४. पण्णवणा (प्रशापना), ५. सूरपण्णति (सूर्यप्रश्नप्ति), ६. जम्बुद्वीपपण्णति (जम्बुद्वीपप्रश्नप्ति), ७. चंदपण्णति (चन्द्रप्रश्नप्ति), ८-१२ निरयावलियासुयक्खंघ (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), ८. निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), ९. कल्पविंसियाओ (कल्पावतंसिकाः), १०. पुष्पियाओ (पुष्पिकाः), ११. पुफ्चूलाओ (पुष्पचूलाः), १२. और वण्हदसाओ (वृण्णदशाः)।

मूलसूत्र

१. उत्तराध्ययन, २. दशवैकालिक, ३. आवश्यक, ४. और पिण्डनि त्रि—
ये चार मूलसूत्र माने गये हैं।

छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में— १. आशाश्रुतस्कन्ध (दशाश्रुतस्कन्ध), २. कप्प (कल्प), ३. ववहार (व्यवहार), ४. निशीथ (निशीथ), ५. महानिशीह (महानिशीथ), ६. और जीतकल्प (जीतकल्प) — ये छः ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रकीर्णिक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं—

१. चडसरण (चतुर्शरण), २. आउरपच्चवर्षाण (आत्मप्रत्याख्यान), ३. भत्तपरिज्ञा (भक्तपरिज्ञा), ४. संथारय (संस्तारक), ५. तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), ६. चंद्रवेज्जय (चन्द्रवेद्यक), ७. देविदत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८. गणिविज्ञा (गणिविद्या), ९. महापच्चवर्षाण (महाप्रत्याख्यान) १०. और वीरत्थय (वीरस्तव)।

चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार—ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं।

क्षेत्राभ्यर याप्तिहाय इति रथाक्षतदार्थी एवं नेत्राप्त्यार्थी प्रत्यपरा ४५ में से दस प्रकीर्णिकों के अतिरिक्त जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति को छोड़कर केवल ३२ ग्रन्थों को मानती है। कुछ लोग आगमों की संख्या ८४ मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रकीर्णिकों की संख्या दस के स्थान पर ३० है। वे ४५ ग्रन्थों के साथ निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, बन्दिन्दुसूत्र, तिथिप्रकरण, कष्ठप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

आगम-प्रणालय

परम्परागत रूप से आगम जिनवाणी हैं और वर्तमान आगम महावीर के उपदेश हैं। कहा जाता है कि महावीर ने जो उपदेश दिया उसे गणधरों ने सूत्रबद्ध किया है। इसीलिए अथोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं। परन्तु वास्तव में यह तथ्य केवल अङ्गों के विषय में ही ग्रासक्षिक है। अङ्गों के अतिरिक्त आगम की क्रमशः हुई संख्या बुद्धि के सम्बन्ध में पद्मभूषण पंद्रलसुख भाई मालवणियाँ का अभिमत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार “गणधरों के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम में सन्निविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मन्दबुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रन्थ बनाये थे उनका समावेश भी आगम के साथ उनका अविरोध

होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करने वाले होने से आगमों में कर लिया गया। अन्त में सम्पूर्ण दशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से विरोध इसलिए भी नहीं हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्बद्धिष्ट होते थे।” मूलाचार की निम्न चरण से इसी ग्रन्थ की सूचना दिलाई गई—

सुतं गणाहरकथिदं तत्त्वेव पत्तेवबुद्ध कथिदं च ।

सुदकेवलिणा कथिदं अधिष्ठणदसपुष्टकथिदं च ॥५,८०॥

दशपूर्वधरों के अभाव के पश्चात् भी आगमों की संख्या में वृद्धि रुकी नहीं अपितु आगम रूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक अपनी निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि में अपने विशेष उपयोग अथवा कर्ता आचार्य की विशेष प्रतिष्ठा के कारण आगम में सम्मिलित कर लिये गये।

जैनागमों की संख्या बढ़ने की परिणति इन आगम ग्रन्थों के अङ्ग, उपाङ्ग, छेद आदि रूप में वर्गीकरण में हुई। जैन साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आगमों का वर्तमान वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है। यहाँ पर आगमों के सभी वर्गीकरणों की पृष्ठभूमि पर विचार न कर छेदसूत्र के रूप में आगम के वर्गीकरण सम्बन्धी साहित्यिक साक्ष्यों का विवेचन प्रस्तुत है।

जैन परम्परा (शेताप्त्वर जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय) में छेदसूत्रों की संख्या के विषय में मतभेद है। छ: छेदसूत्र ग्रन्थों में से महानिशीष और जीतकर्त्त्व इन दोनों को स्थानकावासी और तेरापन्थी नहीं मानते, वे केवल चार को स्वीकार करते हैं। शेताप्त्वर पूर्तिपूजक सम्प्रदाय छ: छेदसूत्रों को मानता है।

छेद संशो कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारम्भ में कौन-कौन से आगम ग्रन्थ सम्मिलित थे, यह भी निष्ठयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभी तक जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं उनके अनुसार आ०नि० ४ में सर्वप्रथम छेदसूत्र का उल्लेख मिला है। इससे प्राचीन उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। अतः इतना तो कहा हो जा सकता है कि ‘आ०नि०’ के समय तक छेदसूत्र का वर्ग पृथक् हो गया था। आचार्य ‘देवेन्द्रमुनि’ के वक्तव्य से भी उक्त मत की पुष्टि होती है, “छेदसूत्र का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यकनिर्युक्ति में हुआ है। उसके पश्चात् विशेषावश्यकभाष्य, निशीषभाष्य आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। लात्पर्य यह है कि हम आवश्यकनिर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के प्राता द्वितीय भद्रबाहु की भी कृति मानते हैं तो विक्रम की छठीं शताब्दी में उन्होंने इसका प्रयोग किया है ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि निर्युक्ति साहित्य को द्वितीय भद्रबाहु की रचना स्वीकार करने के विषय में मतैक्य नहीं है तथापि इससे छेदसूत्रों के प्रथम उल्लेख की ऊपरी समय सीमा निर्धारित की जा सकती है।”

आगम-वर्गीकरण के रूप में छेदसूत्र संज्ञा का अस्तित्व आने के पहले ही छेदसूत्र वर्ग में समाविष्ट कुछ ग्रन्थों या सभी छ; ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। छेदसूत्र ग्रन्थों में से आचारादशा (दशाश्रुतस्कन्ध) का उल्लेख स्थानाङ्क^{१५} में प्राप्त होता है। समवायाङ्क^{१६} में दशा-कल्प-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थाभिगमशास्त्र^{१७} में अङ्ग के साथ उपाङ्ग शब्द का निर्देश किया है। उपाङ्ग शब्द में उनका तात्पर्य अङ्ग बाह्य ग्रन्थों से है। आचार्य उमास्वाति द्वारा अङ्ग बाह्य की सूची में दशा आदि छेद ग्रन्थों का एक साथ निर्देश उनके वर्गीकरण की पूर्व सूचना देता है।

दिग्म्बर परम्परा में आगम मान्य बट्टखण्डगम की प्रख्यात अवलाटीका में अङ्ग बाह्य आगमों की चर्चा के प्रसङ्ग में कष्ण, व्यवहार, कण्ठाकर्षिय, महाकर्षिय, पुण्डरीय, महापुण्डरीय और निशीह का निर्देश है। पण्डित मालवणिया^{१८} के अनुसार छेदसूत्रों के मध्य पुण्डरीक और महापुण्डरीक के उल्लेख को यदि छोड़ दिया जाय तो अवला भी छेद के वर्गीकरण की सूचना दे रही है।

श्रीचन्द्र आचार्य (ई० १११२ से प्रारम्भ) ने सुखाशेषा सामाजारी^{१९} की रचना की है। उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। उसमें उल्लेख है कि प्रथम चार आचाराङ्क से समवायाङ्क तक पढ़ने के बाद निशीय, जीतकल्प, पञ्चकल्प, कल्प, व्यवहार और दशा पढ़े जाते थे। निशीय आदि की छेदसंज्ञा का यहाँ उल्लेख नहीं है किन्तु इन सबको एक क्रम में रखा गया है यह उनकी एक वर्ग से सम्बद्धता सूचित करता है।

जिनप्रभकृत सिद्धान्तागमसौत्र^{२०} में भी आगमों के नामपूर्वक स्तवन के क्रम में निशीय, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प, जीतकल्प और महानिशीय का एक साथ उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गों के नाम नहीं दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए, ऐसा क्रम तो बन ही गया होगा।

आचार्य जिनप्रभ ने विधिभागप्रिपा^{२१} (१३०६ ई०) में भी आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए ५१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इसमें क्रमसंख्या १-नशीथ, १-११ दशा-कल्प-व्यवहार, १२-पञ्चकल्प और १३-जीतकल्प का एक क्रम में उल्लेख है।

जिनप्रभ ने जोगविहार^{२२} शीर्षक प्राकृत गाया प्रकरण का भी उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। इसमें समवायाङ्क के पञ्चात् दसा-कष्ण-व्यवहार-निशीह का उल्लेख करके इनकी ही छेदसूत्र ऐसी संज्ञा भी प्रदान की है। (गाया २२, पृ० ५९)

'छेद' शब्द की व्युत्पत्ति

'छेद' शब्द छिद् धातु से (काटने या भेदने अर्थ में) भाव अर्थ में घट् प्रत्यय होकर निष्पत्त हुआ है। छेद का शाब्दिक अर्थ होता है^{१८}— काटना, गिराना, तोड़ डालना, खण्ड-खण्ड करना, निराकरण करना, हटाना, छिन्न-भिन्न करना, साफ़ करना, नाश, विराम, अवसान, समाप्ति, लोप होना, टुकड़ा, मास, कटौती, खण्ड, गुणात्म, आदि।

जैन परम्परा में छेद शब्द सामान्यतः जैन आचार्यों द्वारा प्रायश्चित्त के एक भेद के रूप में ही ग्रहण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द^{१९} ने छेद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है “सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाओं में जो सदा साधु की प्रथल के बिना प्रवृत्ति होती है— उन्हें असाधानी से सम्पत्र किया जाता है— यह प्रवृत्ति हिंसारूप मानी गई है। शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद (अशुद्ध उपयोग रूप) कहा गया है।” पूज्यपाद ने ‘सर्वार्थसिद्धि’^{२०} में इसे परिभाषित करते हुए कहा है— “कान, नाक आदि शरीर के अवयवों के काटने का नाम छेद है। यह अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचारों के अन्तर्गत है। दिन, पक्ष अथवा मास आदि के विभाग से अपराधी साधु के दीक्षाकाल को कम करना छेद कहा जाता है। यह नी प्रकार के प्रायश्चित्तों में से एक है।” तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनसृति^{२१} में छेद का अर्थ अपवर्तन और अपहार बताया गया है। छेद, महाव्रत-आरोपण के दिन से लेकर दीक्षा-पर्याय का किया जाता है। जिस साधु के महाव्रत को स्वीकार किये दस वर्ष हुए हैं उसके अपराध के अनुसार कदाचित् पाँच दिन का और कदाचित् दस दिन इस प्रकार छः मास प्रमाण तक दीक्षापर्याय का छेद किया जा सकता है। इसप्रकार छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेदसूत्र की उत्तमता

छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत माना गया है। निशीथभाष्य^{२२} में भी इसकी उत्तमता का उल्लेख है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर^{२३} यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है? पुनः स्वयं उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थं यह श्रुत उत्तम माना गया है।

छेदसूत्र नामकरण

दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगम प्रन्थों को छेदसूत्र संज्ञा प्रदान किये जाने के आधार के विषय में भी जैन विद्वानों ने विचार किया है।^{२४} शुब्रिंग के अनुसार छेदसूत्र और मूलसूत्र जैन परम्परा में विद्यमान दो प्रायश्चित्तों—छेद और मूल से लिये गये हैं।

प्रो० एच० आर० कापड़िया^{२१} के अनुसार छेद का अर्थ छेदन और छेदसूत्र का अभिव्याय उस शब्द से लिया जा सकता है जिसमें उन नियमों का निरूपण है- जो श्रमणों द्वारा नियमों का अतिक्रमण करने पर उनको बरिष्ठता (दीक्षापर्याय) का छेदन करते हैं।

कापड़िया के मत में इस विषय में दूसरा और अधिक तर्कसङ्गत आधार पञ्चकल्पभास^{२२} की इस गाथा के आलोक में प्रस्तुत किया जा सकता है— परिणाम अपरिणामा अङ्गपरिणामा य तिविहा पुरिसा तु। णातृणं छेदसुतं परिणामणे होति दायव्यं।। इस गाथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्दों का वह समूह जिसकी शिक्षा कवल पारणत (प्रहण साम्रथ्य वाले) शिखों को ही दी जा सकती है, अपरिणत और अतिपरिणत को नहीं वह छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रों के नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य देवेन्द्र मुनि^{२३} ने भी तर्क प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पहले प्रश्न किया कि अमुक आगमों को छेदसूत्र यह अभिधा क्यों दी गयी? पुनः उत्तर देते हुए कहा इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हीं यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को 'छेदसूत्र' कहा गया है वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं। आचार्य देवेन्द्रमुनि का अभिमत है कि श्रमणों के पाँच चारित्रों— १. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सुक्ष्मसम्पराय ५. और यथाख्यात— में से अन्तिम तीन चारित्र वर्तमान में विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिय चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। सम्भवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

आचार्य ने दूसरी सम्भावना प्रस्तुत करते हुए कहा कि आ० व० (मलयगिरि) में छेदसूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद— ये दोनों शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है, सभी सूत्र स्वतन्त्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है।

उनके मत में तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि दशाश्रुतस्कन्ध, पञ्चकल्प और व्याख्याहार नीवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्घृत किये गये हैं, उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

छेदसूत्रों की संख्या

पञ्चकल्प के विलुप्त होने के पश्चात् जीतकल्प छठे छेदसूत्र के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। कापड़िया^{२४} का अभिपत है कि यद्यपि वे पञ्चकल्प के स्वतन्त्र ग्रन्थ

के रूप में परिणित किये जाने की अथवा इसके विलुप्त होने की वास्तविक तिथि बताने की स्थिति में नहीं है। परन्तु जैन ग्रन्थाबली से ज्ञात होता है कि संवत् १६१२ तक इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध थी।

ओ० विष्टरनित्य^{२५} के अनुसार छः छेदसूत्रों की संख्या इसप्रकार है— कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति, ओषधनिर्युक्ति और महानिशीथ। कालिकसूत्र के रूप में डल्लिखित दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन पाँच छेदसूत्रों की सूची यह इक्षित करती है कि आरम्भ में छेदसूत्रों की संख्या पाँच ही थी।

छेदसूत्रों की सामान्य विषय-वस्तु

छेदसूत्रों का सामान्य वर्णनविषय है, साधक के साधनामय जीवन में उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनसे दूर रहना और दोष उत्पन्न होने पर उसका परिमार्जन करना। इस दृष्टि से छेदसूत्रों के विषय को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है— १. उत्सर्ग मार्ग, २. अपवाद मार्ग, ३. दोष-सेवन, ४. और प्रायश्चित्त विधान।

प्रथम, साधु समाचारी के ऐसे नियम जिन्हें बिना किसी हीनाधिक के या परिवर्तन के, प्रामाणिकता से पालन करना श्रमण के लिए अनिवार्य है उन्हें उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। निर्दोष चारित्र की आराधना इस मार्ग की विशेषता है।

द्वितीय, अपवाद मार्ग से यहाँ अभिप्राय है, विशेष विधि। यह दो प्रकार की होती है— निर्दोष विशेष विधि और सदोष विशेष विधि। आपवादिक विधि सकारण होती है। जिस क्रिया या प्रवृत्ति से आशा का अतिक्रमण म होता हो, वह निर्दोष है। परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विषय होकर दोष का सेवन करना पड़े या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है।

तृतीय, दोष-सेवन का अर्थ है— उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का उल्लङ्घन। चतुर्थ, प्रायश्चित्त का अर्थ है— दोष-सेवन के शुद्धिकरण के लिए की जाने वाली विधि।

दशाश्रुतस्कन्ध : परिचय

कालिक ग्रन्थ

नवीसूत्र^{२६} में पहले जैन आगम साहित्य को अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य में वर्गीकृत किया गया है। पुनः अङ्गबाह्य आगम को आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। ३१ कालिक ग्रन्थों में उत्तराध्ययन के पश्चात् दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन छेदसूत्रों का उल्लेख है। कालिक ग्रन्थों का स्वाध्याय विकास को छोड़कर किया जाता था।

रचना-प्रकृति

जैन आगमों की रचनायें दो प्रकार से हुई हैं^{१०}— १. कृत, २. निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम 'कृत' कहलाते हैं। जैसे गणधरों द्वारा रचित द्वादशाब्दी और भिन्न-भिन्न स्थविरों द्वारा निर्मित उपाङ्ग साहित्य 'कृत' आगम हैं। निर्यूहित आगम वे हैं जिनके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और संक्षेप में उपलब्ध वर्तमान रूप के रचयिता भी ज्ञात हैं जैसे दशवैकालिक के शत्यम्बव तथा कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता भद्रबाहु हैं। द०नि०^{११} से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है। पञ्चकल्पचूर्ण^{१२} से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है— तेण भगवता आयारकण्य-दसा-कण्य-ववहारा य नवमपुव्यनीसंदभूता निज्जूडा।

रचनाकाल

सामान्य रूप से आगमों के रचनाकाल की अवधि ३००० पूर्वी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष मानी जाती है। इस अवधि में ही छेदसूत्र भी लिखे गये हैं। परम्परागत रूप से छः छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र की रचना भद्रबाहु प्रथम द्वारा मानी जाती है। भद्रबाहु का काल ३००० ३५७ के आस-पास निश्चित है। अतः इनके द्वारा रचित दशाश्रुत आदि का समय भी वही होना चाहिए। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० जैकोबी^{१३} और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ३०० पूर्व की ओर का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना जा सकता है। शुब्रिंग^{१४} के शब्दों में— "..... the old Cheyasuttas...., Significant are old grammatical forms...., A metrical investigation made by Jacobi, as was said before, resulted in surmising the origin of the most ancient texts of about the end of the 4th and the beginning of the third century B.C."

विच्छेद

तित्योगाली^{१५} प्रकीर्णिक में विभिन्न आगम ग्रन्थों का विच्छेद काल उल्लिखित है। इसके अनुसार वीर निर्बाण संवत् १५०० ३० (सन् ९७३) में दशाश्रुत का विच्छेद हुआ है। विच्छेद का तात्पर्य सम्पूर्ण ग्रन्थ का लोप मानना उचित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में प्रो० सागरमल जैन^{१६} का कथन अत्यन्त प्रासङ्गिक है, "विच्छेद का अर्थ यह नहीं है कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्क्रिय दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि शेताम्बर परम्परां में भी जो अङ्ग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में लो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानाङ्क, समवायाङ्क, मन्दीसूत्र आदि में हुआ है।" तित्योगाली के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के विच्छेद का उल्लेख न होना इस तथ्य का प्रमाण है कि इस छेदसूत्र का विच्छेद नहीं हुआ है।

स्रोत

द०८०^{३५} के अनुसार दशाश्रुत, अब्दार और घृण्यस्थान— ये नवम प्रत्याख्यानपूर्व से उद्भृत किये गये हैं। इसप्रकार इसका स्रोत नवम पूर्व है।

विषय-वस्तु

स्थानाङ्कसूत्र में उल्लिखित दशाश्रुतस्कन्ध के दसों दशाओं के शीर्षक वर्तमान दशाश्रुतस्कन्ध से साम्य रखते हैं। ये दशायें इसप्रकार हैं— १. असमाधिस्थान, २. शब्दलदोष, ३. आशातना, ४. गणिसम्पदा, ५. चित्तसमाधि, ६. उपासकप्रतिमा, ७. भिक्षुप्रतिमा, ८. पर्युषणाकल्प, ९. मोहनीयस्थान १०. और आयति स्थान।

प्रथम दशा में २० असमाधिस्थान हैं। दूसरी दशा में २१ शब्दलदोष हैं। तीसरी दशा में ३३ आशातनायें हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ सम्पदा और चार कर्तव्य कहे गए हैं तथा चार कर्तव्य शिष्य के कहे गए हैं। पाँचवीं दशा में चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे हैं। छठीं दशा में श्रावक की ११ प्रतिमाएँ हैं। सातवीं दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था इस दशा का उद्धृत रूप वर्तमान कल्पसूत्र माना जाता है। नौवीं दशा में ३० महामोहनीय कर्मवन्ध के कारण हैं। दसवीं दशा में ९ निदानों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है। दशा-क्रम से इस छेदसूत्र की संक्षिप्त विषय-वस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथमदशा

साध्वाचार (संयम) के सामान्य दोषों या अतिचारों को असमाधिस्थान कहा गया है। इनके सेवन से संयम निरतचार नहीं रहता है। बीस असमाधिस्थान निम्न हैं—

१. शीश्रता से चलना,
२. अन्धकार में चलते समय प्रमार्जन न करना,
३. सम्यक् रूप से प्रमार्जन न करना,
४. अनावश्यक पाट आदि ग्रहण या रखना,
५. गुरुजनों के सम्मुख बोलना,
६. वृद्धों को असमाधि पहुँचाना,

७. पाँच स्थावर कायों की सदा यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना,
८. क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना,
९. क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना,
१०. पीठ पीछे निन्दा करना,
११. कथाय या अविवेक से निष्ठयकारी भाषा बोलना,
१२. नया कलह करना,
१३. उपशान्त कलह को पुनः उभारना,
१४. अकाल (चौतीस प्रकार के अस्वाध्यायों) में सूत्रोच्चारण करना,
१५. सचित् रज या अचित् रज से युक्त हाथ-पाँव का प्रमार्जन न करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना,
१६. अनावश्यक बोलना, चाक्खुदू करना एवं उच्च स्वर से आवेश युक्त बोलना,
१७. सह या सङ्गठन में अथवा प्रेम सम्बन्ध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना,
१८. कलह करना, तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना,
१९. मर्यादित् समय के अतिरिक्त भी आहार ग्रहण करना,
२०. अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की अपेक्षा करना।

द्वितीयदशा

शब्द, प्रबल, टोस, भारी, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं। संयम के शब्द दोषों का अर्थ है— सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। ये दोष संयम के अनाचार रूप होते हैं। इनका प्रायश्चित् भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं। शब्द दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधिस्थान संयम में छोटे अपराध हैं। दूसरी दशा में प्रतिपादित इक्कीस शब्द दोष निम्नप्रकार हैं—

१. हस्तकर्म, २. मैथुन सेवन, ३. रात्रिभोजन, ४. साधु के निमित्त बने आधाकर्मों आहार-पानी आदि का ग्रहण, ५. राज प्राप्ताद में गोचरी, ६. सामान्य साधु-साधियों के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना, ७. बार-बार तप-त्याग आदि का भड़क करना, ८. बार-बार गण का त्याग और स्वीकार,

१., १९. घटने (जानु) पर्यन्त जल में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलना अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उत्तरने पर शब्दल दोष नहीं है। २०. एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। २१. शव्यातर पिण्ड महण करना, २२-२४. जानकर सङ्कल्पपूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तप्रहण करना। २५-२७. त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। २८. जानकर सचित हरी बनस्पति (१. मूल, २. कन्द, ३. स्कन्ध, ४. छाल, ५. कोपल, ६. पत्र, ७. पुष्प, ८. फल, ९. बीज और १०. हरी बनस्पति खाना, २९. जानकर सचित जल के लेप युक्त हाथ या झर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार-अनाचार अन्य अनेक हो सकते हैं, फिर भी यहाँ अपेक्षा से २० असमाधिस्थान और २१ शब्दल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अन्तर्भावित कर लेना चाहिए।

तृतीयदशा

आशातना की परिभाषा इसप्रकार है— देव गुरु की विनय-भक्ति न करना, अविनय-अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भड़ करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्रस्तुपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा, तिरस्कार करना 'आशातना' है। इन सभी अपेक्षाओं से आशाश्वकसूत्र में ३३ आशातनाएँ कही गयी हैं। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु-रत्नाधिक (श्रेष्ठ) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

श्रेष्ठ जनों के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने, आहार, विहार, निहार सम्बन्धी समाचारी के कर्तव्यों में, बोलने, शिष्टाचार, भाव और आज्ञापालन में अविवेक-अभक्ति से प्रवर्तन करना 'आशातना' है।

चतुर्थदशा

साधु-साधियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण वर्णित हैं, जैसे—

१. आचारसम्पदा- सम्पूर्ण संयम सम्बन्धी जिनाशा का पालन करने वाला, क्रोध, मानादि कषायों से रहित, शान्त स्वभाव वाला।

२. श्रुतसम्पदा- आगमोत्तम क्रम से शास्त्रों को कण्ठस्थ करने वाला एवं उनके अर्थ-प्रस्तुत्यार्थ को धारण करने वाला।

३. शारीरसम्पदा- समुचित संहनन-संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

४. उपवास युक्त छः पौष्टि (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।
५. पौष्टि के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।
६. प्रतिपूर्ण ब्रह्मचर्य का आगार रहित पालन करना। साथ ही ये नियम रखना—
१. स्नान-त्याग, २. रात्रिभोजन-त्याग, ३. और धोती की एक लांग खुली रखना।
७. आगाररहित सचित वस्तु खाने का त्याग।
८. आगाररहित स्वयं हिंसा करने का त्याग।
९. दूसरों से साध्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्मकार्य की प्रेरणा के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा या आदेश नहीं करना।
१०. साध्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी फलार्थ को न लेना।
११. श्रमण के समान वेश एवं चर्या धारण करना।

लोच करना, विहार करना, सामुदायिक गोचरी करना या आजीवन संयमचर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिबन्ध नहीं है। अतः वह विष्णा आदि के समय स्वयं को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातिजनों के घरों में गोचरी हेतु जाता है। आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक नहीं है।

सप्तमदशा

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है “मैं एकलविहारप्रतिमा धारण कर विचरण करूँ।” भिक्षुप्रतिमा भी आठ मास की एकलविहारप्रतिमा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एवं कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम

१. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही विवेक के साथ लेना।
२. दिन के तीन भाग कलिप्त कर किसी एक भाग में गोचरी लाना और आहार ग्रहण करना।
३. छः प्रकार की श्रमण विधि के अधिग्रह से गोचरी लेने जाना।

४. अलात क्षेत्र में हो इति सौभ ज्ञात—परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना।
५. चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रहना, धर्मोपदेश भी नहीं देना।
- ६-७. तीन प्रकार की शश्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।
- ८-९. साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री-पुरुष आये, ठहरे या अग्नि लग जाये तो भी बाहर नहीं निकलना।
- १०-११. पैर से कैंटा या आँख से रज आदि नहीं निकालना।
१२. सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना। रात्रि में मल-पूत्र की बाधा होने पर जाने का विधान है।
१३. हाथ-पैर में सचित रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना।
१४. अचित जल से भी सुख-शान्ति के लिए हाथ-पैर प्रक्षालन-निषेध।
१५. उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो भार्ग नहीं छोड़ना।
१६. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक महीने की हैं। उनमें दर्ति की संख्या १ से ७ तक वृद्धि होती है। आठवीं, नवीं, दसवीं प्रतिमाएँ सात-सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं। सूत्रोक्त तीन-तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा में छटु के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में अद्वृत तप के साथ इमशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

आहमदशा

इस दशा का नाम पर्युषणाकल्प है। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्युषणा सम्बन्धी समाचारी के विषयों का कथन है। वर्तमान कल्पसूत्र आठवीं दशा से उद्धृत माना जाता है।

नवमदशा

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है। उसके बन्ध सम्बन्धी ३० कारण यहाँ वर्णित हैं—

तीस महामोह के स्थान

- १-३. ब्रह्म जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रुधकर, धुआं कर, मारना,
- ४-५. शास्त्र-प्रहार से सिर फोड़कर, सिर पर गीला कपड़ा बाँधकर मारना,
६. धोखा देकर भाला आदि मारकर हँसना,
७. मायाचार कर उसे छिपाना, शास्त्रार्थ छिपाना,
८. मिथ्या आक्षेप लगाना,
९. भरी सभा में मिश्र भाषा का प्रयोग कर कलह करना,
- १०-१२. ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को बैसा प्रसिद्ध करना,
- १३-१४. उपकारी पर अपकार करना,
१५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना,
- १६-१७. अनेक के रक्षक, नेता या स्वामी आदि को मारना,
१८. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना,
१९. तीर्थद्वारों की निन्दा करना,
२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा कर भव्य जीवों का मार्ग अष्ट करना,
- २१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा एवं भक्ति न करना।
- २३-२४. बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत या तपस्वी कहना,
२५. कलुषित भावों के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नहीं करना,
२६. सहृ में भेद उत्पन्न करना,
२७. जादू-टोना आदि करना,
२८. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना,
२९. देवों की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना,
३०. देवी-देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसायों की तीव्रता था कूरता के होने से इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दशमदशा

संयम-तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण

आगामी भव में ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दौँब पर लगा देना 'निदान' कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम-तप की पूँजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है। दूसरे शब्दों में राम-द्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्म, नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानों से भोक्षप्राप्ति में बाधा होती है। अतः निदान कर्म त्याज्य है। वस्तुतः दशम अध्ययन का नाम आयति स्थान है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है- मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिपूलक सङ्कल्प। यह सङ्कल्प-विशेष ही निदान है।

आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान, जन्म का कारण होने से आयति स्थान माना गया है। आयति अर्थात् आय+ति, आय का अर्थ लाभ है। अतः जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है। दशाश्रुत में वर्णित निदान इसप्रकार हैं—

१. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष-भोगों का निदान।
२. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री-भोगों का निदान।
३. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री-भोगों का निदान।
४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष-भोगों का निदान।
- ५-६-७. सङ्कल्पानुसार दैविक सुख का निदान।
८. श्रावक-अवस्था प्राप्ति का निदान।
९. श्रमण जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्कल जानकर निदान रहित संयम तप की आराधना करनी चाहिए।

विषय-वस्तु का महत्व

दशाश्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु पर विचार करते हुए आचार्य देवेन्द्रमुनि^३ ने कहा है कि असमाधि स्थान, चित्तसमाधि स्थान, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वों का सङ्कलन किया गया है, वे वस्तुतः योगविद्या से सम्बद्ध हैं। योग की दृष्टि से चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए ये अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उपासक प्रतिमा और भिक्षु प्रतिमा, श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमों का परिशान करते हैं। शबलदोष और आशातना इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना ही चाहिए। चतुर्थ दशा गणि सम्पदा में आचार्य पद पर विराजित व्यक्ति

के व्यक्तित्व के प्रभाव तथा शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है।

आचार्य^{१९} ने दशाश्रुतस्कन्ध के प्रतिपाद्य पर ज्ञेयाचार, उपादेयाचार और हेयाचार की दृष्टि से भी विचार किया है— असमाधिस्थान, शबलदीष, आशातना, मोहनीयस्थान और आयतिस्थान में साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है। गणि सम्पदा में आगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिए उपादेयाचार का वर्णन है। चित्त-निवारण में उचाइयाचार का कथन है। उपासक प्रतिमा में अनगार के लिए ज्ञेयाचार और सागर श्रमणोपासक के लिए उपादेयाचार का कथन है।

फिसु प्रतिमा में अनगार के लिए उपादेयाचार और सागर के लिए ज्ञेयाचार का कथन है। अष्टम दशा पर्युषणाकल्प में अनगार के लिए ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार अनागार और सागर दोनों के लिए उपयोगी है।

दशाओं का पौराणिर्य एवं परस्पर सामझूस्य

दशाश्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित अध्ययनों के पौराणिर्य का औचित्य सिद्ध करने से पूर्व इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि आचार्य ने समाधिस्थान का वर्णन न कर सर्वप्रथम असमाधि स्थानों का ही वर्णन क्यों किया? इसके उत्तर में आचार्य आत्माराम^{२०} के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि असमाधि वहाँ नव् तत्पुरुष समासान्त पद है। यदि नव् समास न किया जाये तो यही बीस समाधि स्थान बन जाते हैं अर्थात् अकार को हटा देने से यही बीस भाव समाधि के स्थान हैं। इसप्रकार इसी अध्ययन से जिशासु समाधि और असमाधि दोनों के स्वरूप को भलीभांति जान सकते हैं।

अध्ययनों के पौराणिर्य और परस्पर सामझूस्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि असमाधि स्थानों के आसेवन से शबलदीष की प्राप्ति होती है। अतः पहली दशा से सम्बन्ध रखते हुए सूत्रकार दूसरी दशा में शबलदीष का वर्णन करते हैं।^{२१}

जिसप्रकार दुष्कर्मों से चारित्र शबलदीषयुक्त होता है, ठीक उसीतरह रत्नत्रय के आराधक आचार्य या गुरु की आशातना करने से भी चारित्र शबल दीषयुक्त होता है। अतः पहली और दूसरी दशा से सम्बन्ध रखते हुए तीसरी दशा में तैतीस आशातनाओं का वर्णन है। आशातनाओं का परिहार करने से समाधि-मार्ग निष्कण्टक हो जाता है।

प्रारम्भिक तीनों दशाओं में असमाधि स्थानों, शबलदीषों और आशातनाओं का प्रतिपादन किया गया है। उनका परित्याग करने से श्रमण गणि पद के योग्य हो जाता है। अतः उक्त तीनों दशाओं के क्रम में चतुर्थ दशा में गणिसम्पदा का वर्णन है। गणि-सम्पदा से परिपूर्ण गणि समाधि-सम्पन्न हो जाता है किन्तु जब तक उसको चित्त

समाधि का भली भाँति ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह उचित रीति से समाधि में प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः पूर्वोक्त दशाओं के अनुक्रम में ही पाँचवीं दशा में 'चित्तसमाधि' का वर्णन है।

सांसारी जीवों के लिए समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। सभी मनुष्य साधुवृत्त श्रहण नहीं कर सकते, अतः श्रावकवृत्ति से भी समाधि प्राप्त करना अपेक्षित है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं—उपासक प्रतिमाओं का छठी दशा में प्रतिपादन है। यही अणुव्रती सर्वविरति रूप चारित्र की ओर प्रवृत्त होना चाहे तो उसे श्रमण व्रत धारण करना पड़ता है। अतः सातवीं दशा में भिक्षुप्रतिमा का वर्णन है।

प्रतिमा समाप्त करने के अनन्तर मुनि को वर्षा ऋतु में निवास के योग्य क्षेत्र की गवेषणा कर अर्थात् उचित स्थान प्राप्त कर वर्षा ऋतु वहीं व्यतीत करनी पड़ती है। इस आठवीं दशा में वर्षावास के नियमों का प्रतिपादन है।

प्रत्येक श्रमण को पर्युषणा का आराधन उचित रीति से करना चाहिए, जो ऐसा नहीं करता वह मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है। अतः नवीं दशा में जिन-जिन कारणों से मोहनीय कर्मबन्ध होता है उनका वर्णन किया गया है। श्रमण को उन कारणों का स्वरूप जानकर उनसे सदा पृथक् रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सबसे प्रधान कर्म है। अतः प्रत्येक को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके परिहार हेतु मोहदशा की रचना की गई है।

नवम दशा में महामोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है। कभी-कभी साधु उनके वशवतीं होकर तप करते हुए निदान कर बैठता है। मोह के प्रभाव से कामभोगों की इच्छा उसके चित्र में जाग उठती है और उस इच्छा की पूर्ति की आशा से वह निदान कर्म कर लेता है। परिणामतः उसकी वह इच्छा "आयति" अर्थात् आगामी काल तक बनी रहती है, जिससे वह फिर जन्म-मरण के बन्धन में फँसा रहता है। अतः इस दशा में निदान कर्म का ही वर्णन करते हैं। यही नवमी दशा से इसका सम्बन्ध है। दशवीं दशा का नाम आयति दशा है। आयति शब्द का अर्थ जन्म या जाति जानना चाहिए। जो व्यक्ति निदान के कर्म से बैंधेगा उसको फल भोगने के लिए अवश्य ही नया जन्म प्रहण करना पड़ेगा।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि दशाश्रुतस्कन्ध आचार का प्रतिपादन करने वाला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसकी विषय-वस्तु तार्किक ढङ्ग से संयोजित है।

छ्याख्या साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध पर छ्याख्या साहित्य के रूप में भद्रबाहु कृत निर्युक्ति, अशातकर्तुक चूर्णि, ब्रह्मर्णि या ब्रह्ममुनि कृत जिनहितावृत्ति, एक अशातकर्तुक टीका, पृथ्वीबन्द्र

कृत टिप्पणीक एवं एक अज्ञातकर्तृक पर्यायि उपलब्ध है। इसमें से निर्युक्ति और चूर्णि का प्रकाशन हुआ है। परन्तु शेष व्याख्या साहित्य के प्रकाशित होने की सूचना उपलब्ध नहीं है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर इनका ग्रन्थ-परिमाण निर्युक्ति १४१ गाथा, चूर्णि २२२५ या २१६१ श्लोक-परिमाण ब्रह्मामुनि कृत टीका ५१५२ श्लोक-परिमाण है। दशाश्रुतस्कन्ध के प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख किया गया है।

प्रकाशन

१. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्र-** हिन्दी अनु० सहित, अनु० मुनि अमोलक ऋषि, राजा बहादुर लाला सुखदेव महाय, ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद १९२६, पृ० १४८, प्रताकार।
२. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्-** संस्कृत छाया, पदार्थान्वय, अर्ध, हिन्दी टीका, सूत्रानुक्रमणिका एवं शब्दार्थकोश सहित, अनु० व्याख्या० आत्माराम महाराज, जैन शास्त्रमाला-१, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर १९३६, पृ० ४२, ४९६, ४१, डबल डिमार्ड।
३. **दशाश्रुतस्कन्ध,** निर्युक्ति एवं चूर्णि सहित, मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला सं० १४, भावनगर १९५५, पृ० ४२, १८४, प्रताकार।
४. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्-** संस्कृत छाया, टीका, हिं० एवं गुज० अनु० सहित, मुनि घासीलाल जी, अ०भा० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, द्वि०सं० १९६०, पृ० ४४, ४५०, डबल डिमार्ड।
५. आवारदसा, (मूल) सं० मुनि श्री कर्णेयलाल 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन पुण्य १२, आगम अनुयोग प्रकाशन, बाँकलीयाल, १९१७, पृ० १३८, पाकेट बुक आकार।
६. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्,** (मूल) सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला सं० ७६, आगम सुधा सिम्बु खण्ड १, लाखाबाबल, पृ० २४५-२८८, रायल आकटो।
७. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्,** (मूल) सं० रत्नलाल दोशी, अ०भा० स्था० जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना १९८०।
८. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्**, (मूल) आनन्दसागर सूरि, आगम रत्न मञ्जुषा।
९. **दसाओ,** (मूल), नवशुताणि-५, वाचनाप्रमुख गणाधिपति तुलसी, सं० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनू १९८७, पृ० ४२५-४९१, डबल डिमार्ड।

१०. दशाश्रुतस्कन्ध, 'श्रीणि छेदसूत्राणि' (हि०अनु०, विवेचन, टिप्पण सहित), सं० मुनि कन्हैया लाल 'कमल', जिनागम श्र०मा० सं० ३२, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९९२, पृ० ३-१२४, डबल डिमार्झ।

आठवीं दशा पर्युषणाकर्त्त्य अथवा कल्पसूत्र

जैसा कि सुविख्यात है कि दशाश्रुतस्कन्ध को आठवीं दशा को ही उद्धृत कर आरम्भ में जिनचरित और अन्त में स्थविरावली जोड़कर कल्पसूत्र नाम प्रदान किया गया है। पर्युषण पर्व के अवसर पर इसका पाठ करने से इसकी महत्ता एवं प्रचार दोनों में आशातीत वृद्धि हुई है। फलतः कल्पसूत्र पर व्याख्या साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इस पर लगभग ६० व्याख्याओं के लिखे जाने की सूचना उपलब्ध होता है। निर्युक्ति, चूर्ण और टिप्पणीक, जो प्राचीन हैं और सम्पूर्ण छेदसूत्र की व्याख्या करते हैं, के अतिरिक्त चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य ज्यादातर व्याख्या अन्यों की रचना हुई है। इनकी सूची एच०डी०वेलणकर द्वारा सङ्कलित जिनस्तलकोश (पृ० ७५-७९ पर) में दी गई है, जो निम्न है —

दुर्गपिदनिरूप (१२६८)-विनयचन्द्र, सन्देहविदीषिष्ठि (१३०७)-जिनप्रथ, खरतरगच्छीय, पट्टिका- जिनसूरि, अवचूरि (१३८६)-जिनसागरसूरि, सुखावबोधविवरण- जयसागरसूरि, किरणावली (१५७१)-धर्मसागरगणि, अवचूरि (१९८७)-अमरकीर्ति, कल्पलता (१६१४)-शुभाविजय, प्रदीपिका (१६५७)-संघविजयगणि, दीपिका (१६२०)-जयविजयगणि, मञ्चरी (१६१८)-सहजकीर्तिगणि एवं श्रीसार, दीपिका शिशुबोधिनी (१६४१)-अजितदेव सूरि, कल्पलता (१६४२)-समयसुन्दर, खरतरगच्छीय, सुखोधिका (१६३९)-विनयविजय, कौमुदी (१६५०)-शान्तिसागर, तपागच्छीय, बालावबोध (१६५०)-बुधविजय, दानदीपिका (१६६५)-दानविजय, दानदीपिका (१६९३)-दानविजयगणि, तपागच्छ, कल्पबूमकलिका (लगभग १८३५)-लक्ष्मीवल्लभगणि, खरतरगच्छ, सूत्रार्चप्रबोधिनी (१८९७)-विजयराजेन्द्रसूरि, व्रिस्तुतिगच्छ, कल्पलता, गुणविजयगणि, तपागच्छ, दीपिका-बुद्धविजय, अवचूरि -उदयसागर, अञ्जलगच्छ, अवचूरि-महीमेह, कल्पोद्धोत-न्यायविजय, अन्तर्वाचिना (१४००)-गुणरत्नसूरि, अन्तर्वाचिना-कुलयण्डन सूरि, अन्तर्वाचिना-रत्नशेखर, अन्तर्वाचिना-जिनहंस, अन्तर्वाचिन्य-भक्तिलाभ, अन्तर्वाचिन्य- जयसुन्दसूरि, अन्तर्वाचिन्य- सोमसुन्दरसूरि, स्तवक- पार्श्वचन्द्रसूरि, स्तवक- रामचन्द्रसूरि, मठाहडगच्छ, स्तवक (१५८२)-सोमविमलसूरि, तपागच्छ, बालावबोध- क्षमाविजय, बालावबोध (१६५०)-मेहविजय, स्तवक (१९७२)-विद्याविलासगणि, खरतरगच्छ, बालावबोध (१६७६)-सुखसागर और माङ्गलिकमाला (१७०६)।

कल्पसूत्र प्रकाशन

१. कल्पसूत्र, अनु० स्टीवेन्सन, १८४८।
२. अंडे० अनु०, भूमिका सहित, हर्मन जैकोबी, लिंजन,
३. अंथे० अनु०, हर्मन जैकोबी, सै० बु० ईस्ट सिरीज, खण्ड २२, क्लैरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड १८८४, पृ० ३२४, आकार डिमाई।
४. वृत्ति (सुखबोधिका-विनय विजय) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९०८, पृ० ६०९।
५. वृत्ति (सुखबोधिका) सहित, सं० आनन्दसागर, दे०ला० पु० फण्ड (क्रम ७) पुनर्म० क्र० १६, सूत १९११, १९२३ (पुनर्म०)।
६. गुज० अनु० (सुखबोधिका) भीमशी माणेक, बम्बई १९१५, पृ० १४३।
७. हि० अनु० सहित, अनु० माणिक मुनि, पूनमचन्द्र बुद्धिचन्द्र ढङ्गा, हिन्दी जैन ग्र० माला सं० १, सौभाग्यमल हरकावत, अजमेर १९१७, पृ० २२६।
८. वृत्ति (कल्पद्रुमकलिका-लक्ष्मीवल्लभगणि) बेलजी शिवजी माणडवी, बम्बई १९१८, पृ० २८६।
९. हि० अनु० वृत्ति (कल्पद्रुमकलिका), हीरालाल केशरी चंद, नागपुर १९१८, पृ० २३०।
१०. वृत्ति (कल्पद्रुमकलिका) सहित, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९१८।
११. वृत्ति (किरणावली-धर्मसागरगणि) सहित, जैन आत्मानन्द सभा ग्रन्थ रत्नमाला ७१, भावनगर १९२२, पृ० १२, ४०८, प्रताकार।
१२. वृत्ति (सुखबोधिका), जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९८८।
१३. वृत्ति (सन्देहविवीधि, जिनप्रभसूरि) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९२३।
१४. वृत्ति (सुखबोधिका) सहित, मेघराज जैन बुकसेलर, बम्बई, १९२५, पृ० ४५२।
१५. हिन्दी भावार्थ (कल्पद्रुमकलिकामुसार) सुमति जैनागम प्रकाशक कार्यालय, कोटा १९३३, पृ० ४२२, प्रताकार।
१६. वृत्ति (प्रदीपिका, सङ्खविजयगणि) सहित, वाडीलाल चक्रभाई देवीशाह पांडा, अहमदाबाद १९३५।

१७. वृत्ति (कल्पप्रदीपिका) सहित, मुक्ति विमल जैन ग्रन्थमाला सं० ९, अहमदाबाद १९३५, पृ० २२, ३४२, प्रताकार।
१८. वृत्ति (कल्प-कौमुदी-शान्तिसागर) सहित, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रत्नाम १९३६, पृ० २४०, प्रताकार।
१९. वृत्ति (कल्पलता-समयसुन्दरगणि) सहित, जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड ग्रन्थमाला-४२, सूरत १९३९, पृ० ३४, ५८६, प्रताकार।
२०. वृत्ति (सुखबोधिका-विनय विजय) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९३९, पृ० ४००, प्रताकार।
२१. हि०अनु०सहित, अनु० आनन्दसागर, सुमति जैनागम प्रकाशक कार्यालय, कोटा १९४०, पृ० ४२८।
२२. वृत्ति (कल्पार्थबोधिनी, केशरमुनि) सहित, मनमोहन यशःस्मारक ग्रन्थमाला, जिनदत्तसूरिभण्डार, बम्बई १९४२, पृ० २११।
२३. हि०अनु०वृत्ति (कल्पबोधिनी) अनु० राजेन्द्र सूरि, राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (फालना) १९४४, पृ० २५२।
२४. हि०अनु० वृत्ति (सुखबोधिका-विनयविजय) आत्मानन्द जैन स्वर्गवास अर्द्धशताब्दी सं० २, आत्मानन्द जैन महासभा, जालन्थर १९४८, पृ० ३२०, प्रताकार।
२५. हि०अनु०सहित, अनु० प्यारचन्द जी, जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रत्नाम १९४९, पृ० २७८, प्रताकार।
२६. मू०,नि०, चूर्णि, टीका और गुज०अनु०सहित, सं० मुनि पुण्यविजय जी, साराभाई भणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९५२।
२७. गुज०अनु०सहित, अनु०बुद्धिसागर, मनमोहन यशःमाला, जिनदत्तसूरि भण्डार, बम्बई १९६२, पृ० ३९१।
२८. गुज०अनु० बुद्धिमुनि टीका, मनमोहन यशःमाला, जिनदत्तसूरि भण्डार, बम्बई १९६२, पृ० २६४।
२९. हि०अर्थ, विवेचन व टिप्पण सहित, आचार्य देवेन्द्र मुनि, अमरजैन आगम शोध संस्थान, सिवाना १९६८, पृ० ४६६।
३०. हि०एवं अग्रे० अनु० सहित, हि०अनु० एवं सं० म०म०विनयसागर, ग्राकृत जैन धारती अकादमी, जयपुर (सचित्र) १९७७, पृ० ३४, ४०३ प्रताकार।

३१. अंग्रेज़ोंअनु० सहित, अनु० के०सी० ललवानी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७९, पृ० १६, २०८, डिपार्टमेंट।
३२. मूलमात्र, सं० जिनेन्द्रगणि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबाबल १९७६, पृ० १३४, रायल आक्टो।
३३. हिं०विवेक०सहित, सं० एवं विवेक० आचार्य देवेन्द्र मुनि, तारकगुरु जैन मन्द्यालय उदयपुर, चतुर्थ सं० १९८५, पृ० ४८, ३६०, ७२, रायल आक्टो।
३४. हिं०गुज०अनु० एवं वृत्ति (कल्पमहारी-मुनि कन्हैयालाल) सहित दो भाग, अनु०मुनि घासीलाल, अ०भा०स्थ०स्था०जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९८५, पृ० ५८० एवं ४९०, रायल आक्टो।
३५. कल्पसूत्रम् (बारसासूत्रम्) मूल (सचिन्त्र) खरतरगच्छाचार्य जिनरङ्गसूरि महाराज पोषाल ट्रस्ट, प्रन्थाङ्क-१, कलकत्ता १९९४, पृ० ४५, १८२, प्रताक्कार।
३६. पञ्जोसवणाकप्पो— नवसुत्ताणि खण्ड ५, वाचनाप्रमुख आचार्य तुलसी, सं० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ १९८७, पृ० ४९२-५६०।



सन्दर्भ :

१. षट्खण्डागम (धवला सहित) पुस्तक-१, सं० डॉ०हीरलाल जैन एवं ए०एन०उपाध्ये, ल०जौ०सा०सि०ग्र०माला-१, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९७३, पृ० ९७।
२. प्रो०सागरमल जैन, “आर्धमागधी आगम साहित्य : एकविमर्श”, जैनविद्या के आधार, खण्ड ५, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९४, पृ० ५-८।
३. पं०दलसुख मालवणिया, प्रस्ता० जैन साहित्य का बहूद् इतिहास, भाग-१, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, श्र०माला सं० ७, वाराणसी द्वि०सं० १९८९, पृ० २१।
४. जे च महाकप्पसुअं जाणि अ सेसाणि छेयसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो ति कालिअत्ये उवगयाणि ॥७७७॥
आवश्यकनिर्युक्ति, निषुक्तिसंख्या, सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन श्र०मा०सं० १८९, लाखाबाबल १९८९।
५. आचार्य देवेन्द्रमुनि, “छेदसूत्र : समीक्षात्मक विवेचन”, श्रीणिष्ठेदसुत्ताणि, सं० मुनि कन्हैयालाल, जिनागम ग्रन्थमाला ३२, आगम प्रकाशन समिति,

६. दस दसाओ पण्णताओ, तं जहा..... आयारदसाओ, स्थान १०/ सूत्र ११०। स्थानाङ्कसूत्र, सं० मधुकर मुनि, जिनागम अन्यमाला ७, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर १९८१।
७. समव्याधाङ्कसूत्र, समव्याय ३७, सं० मधुकर मुनि, जिनागम अन्यमाला ८, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर १९८२।
८. तस्य च महाविषयत्वात्स्तानर्थानिधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्मम् । तस्यार्थाविग्रहसूत्रमात्र, अ० १/सू० २०, उमास्वाति, ग्रावचन्द्र जैनशास्त्रमाला, परमश्रुतप्रभावक जैनमण्डल, बम्बई १९३२।
९. पं० भालवणिया, बृहद् इतिहास, पार्श्वनाथ १९८९, पृ० २६।
१०. वही, पृ० २४।
११. वही, पृ० २५।
१२. वही, पृ० २७।
१३. वही, पृ० २८।
१४. वी० एस० आष्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली १९९३, पृ० ३९२।
१५. ग्रावचनसार, ३/१६, आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई १९१२।
१६. सर्वार्थसिन्धि, ७/२५, पूज्यपाद, भारतीय शानपीठ, काशी १९५५।
१७. तस्यार्थभाष्यदृति, ९/२२, सिद्धसेनगणि, देवला०पु० फण्ड, बम्बई १९२९।
१८. छेयसुयमुत्तमसुयं, निशीथभाष्यचूर्णि, भाग ४, ६/४८, सम्पा० अमरमुनि, ग्र०मा० ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति शानपीठ, वीरायतन, राजगृह।
१९. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुतं? पण्णामि--जम्हा एत्यं सपायच्छतो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरण विशुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। नि० आ० चू० भाष्यगाथा, ६/८४ की चूर्णि।
२०. प्रो० एच० आर० कापडिया, हैंडनानिकाल लिटरेचर ऑफ हैंड जैनाल, लेखक, सूत्र १९४१, पृ० ३६, पादटिप्पणी सं० ३।
२१. वही, पृ० ३६।

२२. वही, पृ. ३६।
२३. आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैन आगम साहित्य, लारक गुरु जैन प्र०मा०सं० ७१, लारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७, पृ. २३-२४।
२४. कापडिया, कैनानिकल, सूरत १९४१, पृ. ३७।
२५. वही, पृ. ३९।
२६. प्रो०जैन, “अर्धमागधी आगम” जैन आवाम-५, पार्श्वनाथ, १९९४, पृ. ९।
२७. देवेन्द्रमुनि, “छेदसूत्र”, श्रीणिष्ठेदसूत्राणि, व्यावर १९८२, पृ. ४१।
२८. वही, पृ. ४२।
२९. पञ्चकल्पसूर्णि, पत्र १ (लिखित), द्रष्टव्य-वही, पृ. ४२।
३०. पं०मालवणिया, वृहद् इतिहास-एक, पार्श्वनाथ, १९८९, पृ. ४१।
३१. डब्ल्यू०, शुक्रिंग, द झाकिट्रन ऑव द जैनाज़, अंग्रे०अनु० बुल्लीग ब्यूलेन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६२, पृ. ८१।
३२. भणिदो दसाण छेदो पत्ररससार्हिं होइ वरिसाणं ।
समणम्मि फग्गुमिते गोयमगोते महासने ॥८१७॥
- तित्योगाली पंडितर्य - ‘पङ्कजणायसुत्ताङ्क’ - (२), सं० मुनिषुण्यविजय, जैन आगम ग्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४, पृ. ४८३।
३३. प्रो०जैन, “अर्धमागधी आगम”, जैन आवाम, पार्श्वनाथ १९९४, पृ. ३३।
३४. कतरं सुर्तं? दसाउकप्पो ववहाये या कतरातो उद्धृतं? उच्यते पञ्चखाण पुव्वाओ। — द०च००, जिनदासगणि, ‘पणिविजय गणि ग्रन्थमाला सं० १४, भावनगर १९५४, पृ. २।
३५. देवेन्द्रमुनि, “छेदसूत्र” श्रीणिष्ठेदसूत्राणि, व्यावर १९८२, पृ. १२-१३।
३६. वही, पृ. १३।
३७. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अनु०आत्माराम, जैन शास्त्रमाला सं० १, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६, पृ. १०।
३८. वही, पृ. ३३-३४, ६४-६५, ९८-९९, १३९-१४०, १७२, २५५, ३१३, ३१८ एवं ३६३।



द्वितीय अध्याय

निर्युक्ति-संरचना और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

जैन आगम साहित्य के एक वर्गीकरण के रूप में छेद सूत्रों की संख्या, नामकरण, सामान्य विषय-बस्तु, दशाश्रुतस्कन्धन की विषय-बस्तु, प्रकाशित संस्करण तथा अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् द०नि० के प्रतिपाद्य के विषय में चर्चा करने से पूर्व निर्युक्ति साहित्य की संरचना और उसके प्रमुख अवयव निष्केप सिद्धान्त का विवेचन अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

आगमों की स्वाख्या निर्युक्ति के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली दश० निर्युक्ति' की निम्न गाथाये—

निर्युक्तेणाद्व निरुत्तिविही पवित्री य केण चा कस्स ।

तदार भेषलक्षणं तथरिह परिसा य सुत्तथो ॥५॥

एवं

भिक्खुस्स य निर्युक्तेवो निरुत्तएगद्विआणि लिंगाणि ।

अगुणाद्विओ न भिक्खु अवयवा पंच दाराहं ॥३२२॥

निर्युक्ति साहित्य की संरचना पर या निर्युक्ति के अवयवों या घटकों पर कुछ सीमा तक प्रकाश डालती हैं। लेकिन निर्युक्ति साहित्य की संरचना को समग्र रूप से अभिव्यक्त करने वाला कोई प्राचीन उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। प्रो० कापडिया^१ ने भी इसी तथ्य को इक्षित करते हुए कहा है— "In order that its nature may completely realised, it is necessary to tap another source wherein there is a specific mention of atleast its constituents." फिर भी हम उक्त गाथाओं के आलोक में कह सकते हैं कि निष्केप, एकार्थ एवं निरुत्त निर्युक्ति साहित्य के घटक के रूप में प्राचीन साहित्य में भी वर्णित हैं। साथ ही दृष्टान्त कथाओं का सङ्केत भी पर्याप्त पात्रा में निर्युक्तियों में दृष्टिगोचर होता है।

निर्युक्ति साहित्य की संरचना में चारों घटकों— निष्केप, एकार्थ, निरुत्त और दृष्टान्त की महत्ता एवं स्वरूप के सम्बन्ध में आधुनिक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने भी मन्तव्य प्रस्तुत किया है।

निर्युक्ति साहित्य के प्रमुख घटक के रूप में निष्केप की महत्ता बताते हुए एल० एल्सडोर्फ^२ का अभिमत है—

"This curious system of subjecting key-words to an investigation by applying a scheme of fixed view-points may be less fruitful philosophically, but it occupies almost a key position in early scholastic literature, particularly the Nijjuttis. It is of prime importance for understanding of these difficult and hitherto rather imperfectly explored texts."

निर्युक्ति साहित्य में एकार्थक का महत्व प्रतिपादित करते हुए कापड़िया^१ ने कहा है—

"Egattha is one of the features of Nijjutti and it should be so, for, otherwise a commentary is not worth the name. A thing or a point gets correctly understood when synonyms are suggested."

अवयव के रूप में निर्युक्ति में निरुक्त की उपस्थिति बताते हुए कापड़िया^१ ने निरुक्त को भारतीय साहित्य को जैनों का योगदान कहा है। उनका अभिमत है—

"All the extant Nijjuttis more or less indulge in the discussion of Niruttas. This is another instance how the Indian literature gets enriched by Jaina contributions."

निर्युक्ति साहित्य में पर्याप्त संख्या में दृष्टान्त कथाओं का निर्देशमात्र उपलब्ध होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जै० शार्पेण्टर^२ ने उचित ही कहा है—

"For the most important aim of the Niryukti is apparently to give a sort of register of the legends and tales which are used to illustrate the religious sentences and moral or disciplinary rules given in the cononical text."

निष्ठेप सिद्धान्त और निर्युक्ति साहित्य

निर्युक्ति साहित्य में निष्ठेप सिद्धान्त का प्राधान्य है। यह निरूया नि पूर्वक क्षिप् धातु से भाव अर्थ में घट् प्रत्यय होकर निष्ठन्त्र हुआ है। निष्ठेप का प्रमुख पर्याय "न्यास" है— निष्ठेपो न्यासः समर्पणम् । विशेषवाक्यकथावृत्तीकार^३ में "निष्ठेपः भोचनं रचनं न्यास इति" इन्हें एकार्थक कहा गया है। जैन बाद्धमय में निष्ठेप की अनेक परिभाषायें या लक्षण दिये गये हैं जिनमें न्यास-रखने के अभिप्राय की प्रधानता है। सर्वार्थसिद्धि^४ के अनुसार "निष्ठिष्वत इति निष्ठेपः स्थापना" अर्थात् जिसे रखा जाता है उसे निष्ठेप कहा जाता है। राजवार्तिक^५ में "न्यसनं न्यस्यत निप इति वा न्यासो निष्ठेप इत्यर्थं" अर्थात् सौपना या धरोहर रखना निष्ठेप कहलाता है। नामादिकों में वस्तु को रखना निष्ठेप है। तत्त्वार्थादिगमभाष्य^६ लक्षण से इसके खेदों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया

है कि लक्षण और विधानपूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए जो न्यास—नाम, स्थापनादि के भेद से विचरण या निष्केप किया जाता है उसे निष्केप कहते हैं।

निष्केप सिद्धान्त का प्रयोजन इस प्रकार निर्दिष्ट है। अप्रकृत विषय का निवारण करने के लिए, प्रकृत विषय का प्ररूपण करने के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निष्केपों का कथन करना चाहिए। धर्मला^{११} के अनुसार निष्केपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त सम्बन्ध है कि वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जाये इसलिए भी निष्केपों का कथन करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में प्रो॰ सागरमल जैन^{१२} का कथन अत्यन्त प्रासङ्गिक है कि निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिषाधिक शब्दों का स्पष्टीकरण है। इसमें निष्केप पद्धति से शब्द के सम्भावित विविध अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

निष्केप के प्रमुख रूप से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव क्रमशः ये चार और छः भेद माने जाते हैं। परन्तु जैन निष्केप अनन्त माने जाते हैं और उन अनन्त निष्केपों का संक्षेप रूप से चार में ही अन्तर्भव हो जाता है। निर्युक्ति साहित्य में निष्केप सिद्धान्त के भेदों और अवान्तर भेदों के द्वारा अभीष्ट शब्दों का निष्केप किया गया है। अतः निष्केप सिद्धान्त को भेद-प्रभेदों सहित भलीभांति जानेविना निर्युक्ति को समझना अत्यन्त दुर्लभ है। निर्युक्ति साहित्य के लिए निष्केपों की अनिवार्यता को देखते हुए भी निष्केप सिद्धान्त की विवेचना का अभी तक सन्तोषजनक प्रयास नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में एल्सडोर्फ^{१३} के इस अभिमत से असहमति नहीं हो सकती कि— निष्केपों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं हुआ है वे लिखते हैं—

"Yet I have not seen a full description which would explain the details of the Niksepa technique and make clear its general significance and practical use. This is why it is hoped that the following exposition will not be deemed superfluous."

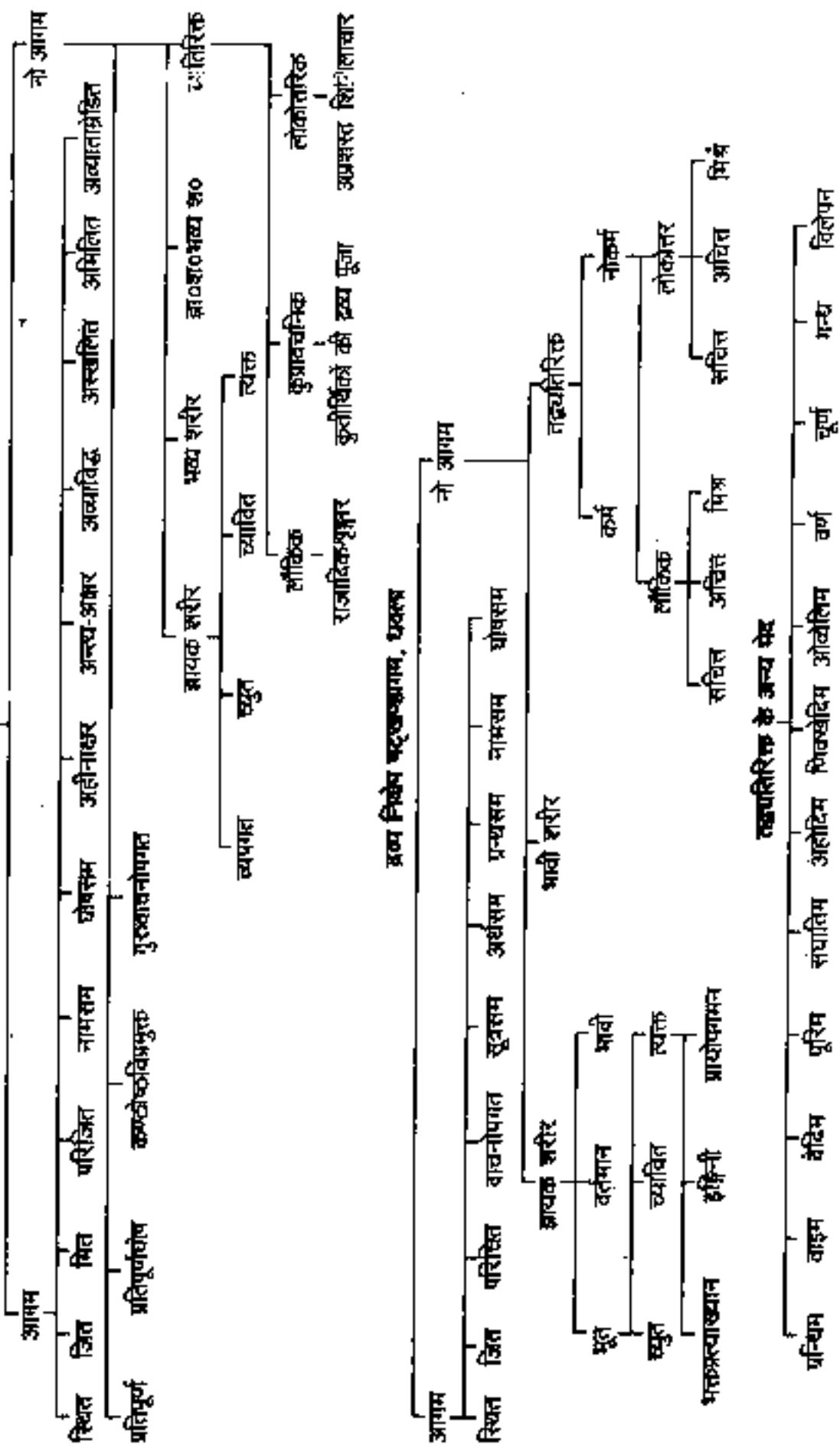
Alsdorf के लेख—Niksepa 'A Jaina Contribution To Scholastic Methodology' के विषय में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उन्होंने अनुयोगद्वारसूत्र के तीन सूत्रों के आधार पर निष्केप सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। यद्यपि इन तीनों सूत्रों में महत्वपूर्ण सूचनाएँ निर्दिष्ट हैं लेकिन निर्युक्ति साहित्य के पारिषेष्य में निष्केप के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से अनुयोगद्वारसूत्र का विवरण पर्याप्त नहीं है। इसी दृष्टिशय में जैन आगमों और दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आया कि दिग्ब्दर परम्परा के प्रन्य दद्दुखण्डागम और उसकी टीका धर्मला में निष्केप सिद्धान्त सम्बन्धित सर्वाधिक विस्तार से निरूपित है। आगे दोनों ग्रन्थों में प्राप्त तथ्यों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत है—

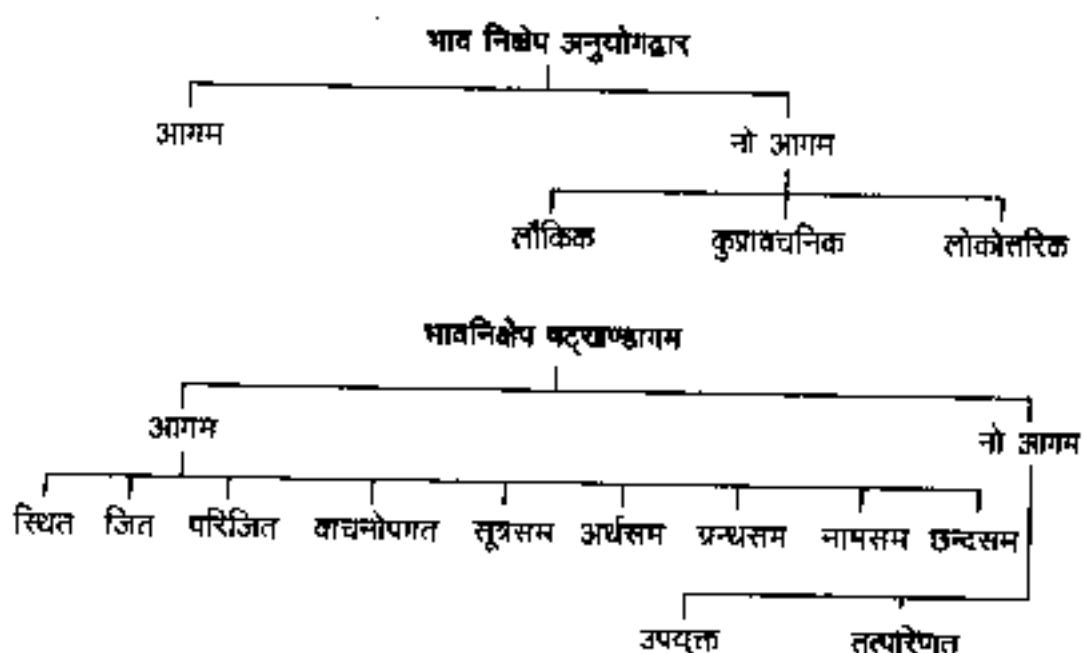
निषेप		नाम निषेप अनुयोग द्वारा		नाम निषेप पट्टखण्डनाम		सदभाव	
नाम	स्थापना	द्वय	भाव	जीव	अनेक जीव	अनेक अजीव	अनेक जीव अनेक अजीव
जीव	अजीव	अनेक जीव	अनेक अजीव	जीव-अजीव तद्भय	जीव अनेक अजीव	अनेक जीव अजीव	अनेक जीव अनेक अजीव
					तद्भय	तद्भय	तद्भय
एकजीव	अनेक जीव	एक अजीव	अनेक अजीव	एक जीव एक अजीव	एक जीव अनेक अजीव	अनेक अजीव एक जीव	अनेक जीव अनेक अजीव
काण्ठ कर्म	चित्र कर्म	लेप्य कर्म	पर्चिम वैष्णव	पूरीम	संघातिम	अर्थ	वाराटक
काण्ठ चित्र	पोता	लेप्य	लथन	शैल	शृङ्ग	भित्ति	दन्त
सदभाव	सदभाव	सदभाव	सदभाव	सदभाव	सदभाव	असदभाव	असदभाव
अस	अस	अस	अस	अस	अस	वाराटक	वाराटक

अनुपोग शार द्वय निषेध

निर्युक्ति-संरचना और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

५८





अनुयोगद्वार और चट्टखण्डागम में प्राप्त निष्ठेप सिद्धान्त के साम्यासाम्य का दिग्दर्शन कराने हेतु प्रस्तुत सारिणी के अवलोकन से प्राप्त मुख्य तथ्यों को इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। जहाँ तक नाम निष्ठेप का प्रश्न है दोनों ग्रन्थों में विवरण समान है। अन्तर इतना है कि अनुयोगद्वार में नाम निष्ठेप के आठ अवान्तर भेद बता दिये गये हैं जबकि चट्टखण्डागम में नाम निष्ठेप के जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया भेद किये गये हैं तत्पश्चात् उक्त द्रव्य निष्ठेप के आठ अवान्तर भेद बताये गये हैं। स्थापना-निष्ठेप के विवेचन-क्रम में हम पाते हैं कि दोनों ग्रन्थों में इसको सद्वाव और असद्वाव में समान रूप से वर्गीकृत किया गया है। इसका दूसरा भेद-असद्वाव निष्ठेप अक्ष, वाराटक आदि में स्थापना दोनों में समरूप है। परन्तु सद्वाव स्थापना निष्ठेप के अवान्तर भेदों में अन्तर है। अनुयोगद्वार एवं चट्टखण्डागम में काल्कर्म, चित्रकर्म, लेप्यकर्म उभयनिष्ठ हैं। परन्तु अनुयोगद्वार में प्राप्त ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम, संघातिम का चट्टखण्डागम में द्रव्य निष्ठेप के नोआगम द्रव्य के प्रभेद के रूप में उल्लेख है। साथ ही चट्टखण्डागम में प्राप्त सद्वाव स्थापना के लक्षण कर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भिति कर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्म अनुयोगद्वार में अनुपलब्ध हैं।

द्रव्य निष्ठेप के, जिसका सर्वाधिक विस्तृत रूप निर्युक्ति साहित्य में प्राप्त होता है, विवरण में भी दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त भिन्नता है। द्रव्य निष्ठेप के मुख्यतः दो भेद हैं— आगम और नो आगम। आगम द्रव्य निष्ठेप के प्रभेद—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, नामसम और घोषसम, ये दोनों में समान हैं परन्तु अनुयोगद्वार में उल्लिखित मित, अहीनाक्षर, अन्त्याक्षर, अव्याकिद्वाक्षर, अस्खालित, अमिलित, अव्याताम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण धोष और कण्ठोलविप्रमुक्त का चट्टखण्डागम में कोई सूचना नहीं है। चट्टखण्डागम में प्राप्त सूत्रसम, अर्थसम और ग्रन्थसम

अनुयोगद्वार में अनुपस्थित है।

नी आगम द्रव्य निष्ठेप के अवान्तर भेद—ज्ञायक, घव्य और व्यतिरिक्त दोनों में समान हैं। परन्तु जहाँ अनुयोगद्वार में ज्ञायक शरीर के चार उपभेद व्यपगत, च्युत, च्यावित और त्यक्त मिलते हैं, वही षट्खण्डागम में अन्तिम तीन भेद च्युत, च्यावित और त्यक्त ही प्राप्त होते हैं। परन्तु ये षट्खण्डागम में प्रत्यक्ष रूप से ज्ञायक शरीर के उपभेद नहीं हैं बल्कि इसके तीन भेदों भूत, वर्तमान, भावी में से एक भूत ज्ञायक शरीर के भेद हैं। त्यक्त भूत ज्ञायक शरीर के तीन प्रभेद भक्तप्रत्याख्यान, इक्षिनी, प्रायोपगमन हैं, जबकि अनुयोगद्वार में ज्ञायक शरीर के चारों भेद व्यपगत आदि ही बताये गये हैं। उनके अन्य प्रभेदों का कोई उल्लेख नहीं है। निर्युक्ति साहित्य में भी भक्तप्रत्याख्यान एवं इक्षिनी का निष्ठेप द्रव्य में उल्लेख है। नां आगम द्रव्य निष्ठेप के भेद व्यतिरिक्त शरीर के अनुयोगद्वार में लौकिक, कुआवचिनक और लोकोत्तरिक तीन भेद ही मिलते हैं जबकि षट्खण्डागम में इसे पहले कर्म और नोकर्म में वर्गीकृत किया गया है। तत्पश्चात् नोकर्म को लौकिक और लोकोत्तर में, फिर दोनों को सचित, अचित और मिश्र में वर्गीकृत किया गया है। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि निर्युक्ति साहित्य में सचित, अचित, मिश्र के भी नौ-नौ भेद किये गये हैं।

अनुयोगद्वार में सद्बाव स्थापना निष्ठेप के क्रम में वर्णित ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम और संघातिम का षट्खण्डागम में द्रव्यनिष्ठेप के विवरण क्रम में तद्व्यतिरिक्त शरीर के भेद के रूप में उल्लेख है। यहाँ इन चारों के अतिरिक्त वादिम, अहोदिम, णिक्खेदिम, उद्देलिम, वर्ण, चूर्ण, गन्ध और विलेपन भी वर्णित हैं।

भाव निष्ठेप के भेद-प्रभेदों में दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों में इसके आगम और नोआगम भेद तो समान हैं किन्तु अनुयोगद्वार में नोआगम को लौकिक, कुआवचिनक और लोकोत्तरिक में वर्गीकृत किया गया है जबकि षट्खण्डागम में यह उपर्युक्त और तत्परिणत में वर्गीकृत किया गया है। अनुयोगद्वार में आगम भाव निष्ठेप के अवान्तर भेदों का अभाव है जबकि षट्खण्डागम में स्थित, जित आदि इसके अवान्तर भेद बताये गये हैं।

इसप्रकार दोनों ग्रन्थों के विवरण के आधार पर निष्ठेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से उनमें साम्यासाम्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। निर्युक्ति साहित्य के अध्ययन से इस पर अतिरिक्त प्रकाश पड़ने की प्रबल सम्भावना है। निर्युक्ति साहित्य में शब्दों के निष्ठेप में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव हन चतुर्थ निष्ठेपों की प्रधानता है। साथ ही इसमें दस विधि, एकादश विधि और सत्रह विधि निष्ठेप से शब्दों की व्याख्या की गई है। उदाहरण स्वरूप उत्तर शब्द की व्याख्या सबह निष्ठेपों के आधार पर की गई है।

निषेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों से निर्युक्ति की व्याख्या में अत्यधिक सहायता मिलती है। एक-एक शब्द का निषेप ३०-३० गायाओं तक में हुआ है। जो गाया, निषेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों के ज्ञान के अभाव में अत्यन्त दुर्घट प्रतीत होती है वही भेद-प्रभेदों के आलोक में अपेक्षाकृत सरल प्रतीत होने लगती है।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों में निषिप्त शब्दों का सरसरी तौर पर निषेप के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यदि उक्त दृष्टि से निर्युक्ति-सामग्री का वर्गीकृत कर अध्ययन किया जाय तो निर्युक्ति की व्याख्या में बहुत सहायता मिलेगी और निर्युक्ति ही नहीं बल्कि निर्युक्ति-आधारित भाष्य और चूर्णि की व्याख्या का मार्ग भी सुगम हो जायगा।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति - सरंचना

अन्य निर्युक्तियों की ही भाँति दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में भी निषेप, एकार्थ, निरुक्त और दृष्टान्त कथायें इसके घटक के रूप में विद्यमान हैं।

इस निर्युक्ति में आशातना, गणिसम्पदा, शरीरसम्पदा, सद्ग्रहपरिज्ञा, भिक्षु, स्थापना, मोह, जाति और बन्ध शब्दों के निषेप किये गये हैं। इसीप्रकार ज्ञात, पर्युषणा और मोह शब्दों के एकार्थक इसमें प्राप्त होते हैं। निरुक्त की दृष्टि से वह स्थल उद्धृत किया जा सकता है जहाँ श्रावक ही उपासक है, श्रमण नहीं, इस तथ्य का निरूपण करते हुए कहा गया है— जिसके द्वारा सम्पूर्ण रूप से कार्य किया जाता है, वही कर्ता कहा जाता है।

जहाँ तक दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में सङ्केतित दृष्टान्त कथाओं का प्रश्न है इसमें क्षमापना में कुम्भकार, उदायन चण्डप्रद्योत और चेट द्रमक का दृष्टान्त, चारों कथाओं में क्रोध में मरुक, मान में अत्यहङ्कारिणी भट्ठा, माया में साध्वी पाण्डुराया और लोभ में आर्यमङ्गु का दृष्टान्त निर्दिष्ट है। इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन पुस्तक में यथास्थान आया हुआ है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति - प्रतियाप्ति

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में आदि भञ्जलाचरण के रूप में सम्पूर्ण श्रुतों के ज्ञाता, दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन छेदसूत्रों के कर्ता प्राचीनगोत्रीय भद्रवाहु की वन्दना की गई है। विषय-निरूपण का प्रारम्भ दशा के निषेप से किया गया है। द्रव्य-निषेप की दृष्टि से दशा वस्तु की अवस्था है तो भाव-निषेप की दृष्टि से जीवन की अवस्था। जीवन अवस्था या आयु-विषाक के सन्दर्भ में सौ वर्ष की आयु को दस-दस वर्ष की दस दशाओं—अवस्थाओं में वर्गीकृत किया गया है। ये दस अवस्थायें हैं— बाला (एक से दस वर्ष), मन्दा (यारह से बीस वर्ष), क्रीड़ा (२१-३० वर्ष), बला (३१-४०

वर्ष), प्रश्ना (४१-५० वर्ष), हायनी (५१-६० वर्ष), प्रपञ्चा (६१-७० वर्ष), प्राग्भारे (७१-८० वर्ष), मन्मुखी (८१-९० वर्ष) और शायनी (९१-१०० वर्ष)। अध्ययन से तात्पर्य शास्त्र-विभाग से है और प्रस्तुत ग्रन्थ में दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों—असमाधि, शब्दल, आशातना, गणिगुण, भवःसमाधि, श्रावकप्रतिमा, भिक्षुप्रतिमा, पर्युषणाकल्प, मोह और निदान की क्रमशः निर्युक्ति की गई है। इसके उक्त अध्ययन दृष्टिवाद आदि पूर्वों से उदृष्ट हैं। आचार का ज्ञाताधर्म आदि छः अङ्गों में विस्तृत तथा दशाश्रुतस्कन्ध के इन अध्ययनों में संक्षिप्त निरूपण उपलब्ध होता है।

निर्युक्ति की प्रस्तावना रूप आठ गाथाओं के पश्चात् असमाधि (गाथा ९-११), शब्दल (१२-१४), आशातना (१५-२४), गणिगुण या गणिसम्पदा (२५-३१), भवःसमाधि (३२), श्रावकप्रतिमा (३३-४३), भिक्षुप्रतिमा (४४-५१), पर्युषणाकल्प (५२-११८), मोह (११९-१२६) और निदान अध्ययन (१२७-१४१) की निर्युक्ति है।

प्रथम 'असमाधि' अध्ययन में समाधि का द्रव्य और भाव की दृष्टि से तथा इसके २० अतिशयों या स्थानों का निर्देश है। समाधि-प्राप्ति में सहायक द्रव्य या वस्तु-विशेष द्रव्यसमाधि और प्रशस्त योग द्वारा प्राप्त होने वाली जीव की सुसमाहित अवस्था भाव समाधि है। समाधि की विपरीत अवस्था असमाधि है।

द्वितीय 'शब्दल अध्ययन' में शब्दल और शब्दलता अर्थात् चारित्र को दूषित करने वाले शिथिलाचारों का निर्देश है। चारित्र का दूषित होना या चारित्र पर दाग, धब्बा या कलङ्क लग जाना जैसे कि चितकबरा बैल आदि यह द्रव्य शब्दल है। शब्दलत्व में चारित्र सर्वथा दूषित नहीं होता बल्कि अंश रूप में भ्रष्ट होता है। जिस प्रकार कम या अधिक खण्डित घड़ा, खण्डित ही कहा जायगा उसीप्रकार चारित्र की अंशतः विराधना, चाहे जिस भी मात्रा में हो, वह शब्दल विराधना कही जाती है।

तृतीय अध्ययन 'आशातना' में इसके मिथ्याप्रतिपादन और मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ को भेद बताये गये हैं। पुनः इन दोनों का छः निषेचों— नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव से प्रतिपादन है। मिथ्याप्रतिपादन और मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ आशातनाओं का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निषेच की दृष्टि से इष्ट और अनिष्ट रूप में निरूपण है। उदाहरणस्वरूप चोरों द्वारा हुत उपथि की साथु द्वारा पुनर्महण अनिष्ट द्रव्याशातना तथा उद्भव, उत्पादन आदि दोष से युक्त उपथि का साथु को प्राप्ति इष्ट द्रव्याशातना है। सचित आदि द्रव्यों का अरण्य आदि में प्राप्त होना अनिष्ट क्षेत्र और ग्रामादि में प्राप्त होना इष्ट क्षेत्र मिथ्याप्रतिपादन आशातना है। द्रव्यादि की दुर्भिक्ष में प्राप्ति अनिष्ट काल और सुमिक्ष में प्राप्ति इष्ट काल मिथ्याप्रतिपादन आशातना है। जो संयम और तप में तत्पर हों उनके विषय में वह नहीं करता है, अशक्य है या कम करता है। इसप्रकार अपनी उत्कृष्टता का कथन भावदृष्टि से मिथ्याप्रतिपादन आशातना है।

इसीप्रकार इष्ट और अनिष्ट मिथ्या प्रतिपत्ति आशातना का भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से निरूपण है। प्राप्त इन्हाँ का परिणाम इन्हें पर इष्ट, काया अधिक होने पर अनिष्ट द्रव्य मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना होती है। सम्यकरूप से दिया गया द्रव्य इष्ट और असम्यक् रूप से द्रव्य अनिष्ट। द्रव्य को प्राप्ति और प्रदान सुक्षेत्र में हो तो इष्ट और विक्षेत्र में हो तो अनिष्ट, मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना है। औदियिक आदि छः प्रकार के भावों के कारण भी मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना छः प्रकार की होती है। उपसर्गों से भी अकास्मात् आशातना होती है।

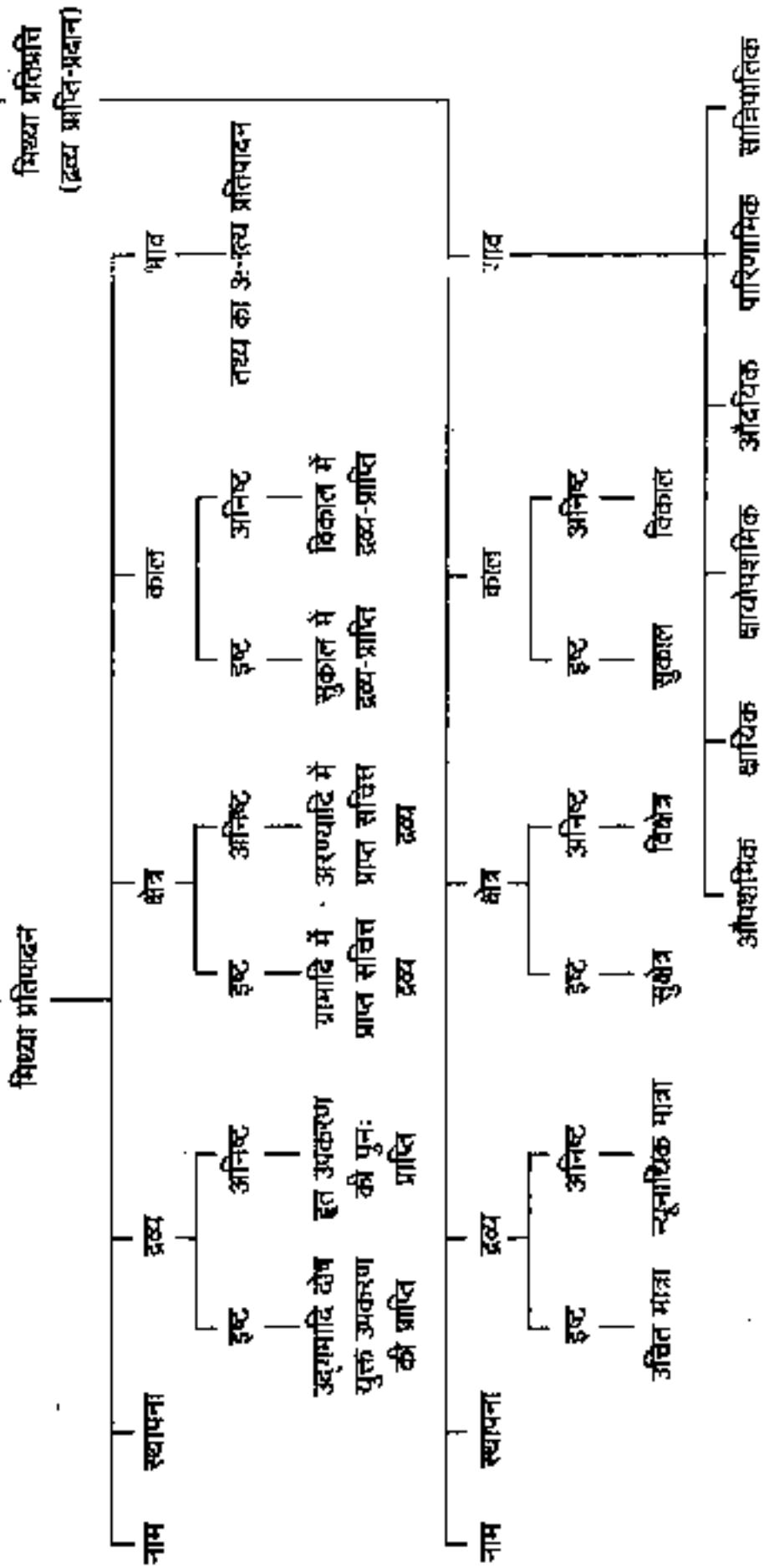
छेदन्त्र दशाश्रुतस्कन्ध में वर्णित गुह सम्बन्धी आशातना के निमित्तों का यदि अकारण आचरण किया जाय तो उससे गम्भीर कर्मों का बन्ध होता है। कारण उपस्थित होने पर इन आशातनाओं का आचरण करने वाला गम्भीर कर्म का बन्ध नहीं करता है। श्रमण को गुह की आशातना से बचना चाहिए। इस अध्ययन की विषय-वस्तु को सरलता से स्पष्ट करने के लिए सारिणी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। (पृ० सं० ७१)

चतुर्थ अध्ययन 'गणिसम्पदा' में गणि को द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। द्रव्यगणि अर्थात् गणि का संसारी शरीर और भावगणि से तात्पर्य गणि का आचारसम्पदा आदि गुणों से युक्त होना है। गणि का मुख्य गुण सङ्घ्रह और उपकार करना तथा धर्मज्ञ होना है। गणि द्वारा गण-सङ्घ्रह द्रव्य और भाव दो दृष्टियों से होता है। द्रव्य अपेक्षा से शिष्यों के लिए वस्त्रादि सङ्घ्रह और भाव अपेक्षा से शिष्यों के लिए ज्ञानादि का संग्रह। इसी प्रकार गणि गणोपकारक भी द्रव्य और भाव दोनों अपेक्षा से होता है। द्रव्योपग्रह से अभिप्राय आहारादि द्वारा कृपा और भावोपग्रह का अर्थ रुण, वृद्धादि का संरक्षण रूप है। गणिधर्म अर्थात् गणिस्वधाव को जानने वाला गणि कहा जाता है। द्रव्यगण अर्थात् गच्छ और भावगण अर्थात् ज्ञानादि को धारण करने में समर्थ को गणि कहा जाता है। सम्पदा नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निषेप से छः प्रकार की होती हैं। द्रव्य दृष्टि से गणि की सम्पदा शरीर है। औदियिकादि छः प्रकार के भाव भाव-सम्पदा हैं। आठवीं गणि सम्पदा सङ्घ्रहपरिज्ञा भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से छः प्रकार की होती है।

पर्वत, कन्दर, शिलाखण्डों आदि विषम स्थानों पर अपने शरीर पर डगे हुए दौतों को बिना खित्र हुए बहन करने वाले गज की भाँति गणि भी जिनभक्त, साधर्मिक तथा असमर्थों को विषम क्षेत्र और दुर्घाल में सरलतापूर्वक बहन करता है।

पञ्चम अध्ययन 'मनःसमाधि' की निर्युक्ति मात्र एक गाथा में है। इस अध्ययन को श्रेणि-अध्ययन भी कहा जाता है। इसमें उपासक के चार भेद—द्रव्य, तदर्थ, भोह और भाव निर्दिष्ट हैं।

आवासना



छठवें 'उपासकप्रतिमा' अध्ययन में उपासक— श्रावक के उपर्युक्त चारों भेदों का लक्षण बताकर श्रावक ही उपासक है, श्रमण नहीं, इसका युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। द्रव्य और भाव निषेप की अपेक्षा से प्रतिमा का स्वरूप बताया गया है। द्रव्योपासक— ससारो शरीर धारण करने वाला, तदर्थोपासक-ओदनादि पदार्थों की इच्छा वाला, मोहोपासक-कुप्रवचन और कुर्धम की उपासना करने वाला और भावोपासक-श्रमणों का आराधक सम्यग्दृष्टि श्रावक है। किसी कार्य को जो समग्र रूप से सम्पादित करता है उसी के द्वारा कार्य कृत कहा जाता है। केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् श्रमण भक्ति या उपासना नहीं करते हैं अतः वे उपासक नहीं कहे जा सकते हैं। परिणामस्वरूप गृही अथवा श्रावक ही सच्चे अर्थों में उपासक कहे जाते हैं। संन्यास चाहने वाले गृहस्थ का द्रव्यलिङ्ग संयमप्रतिमा है। प्रतिमा-विशेष में प्रतिमा के अपेक्षित गुणों का श्रावक में विद्यमान होना भाव प्रतिमा है।

सप्तम 'पिक्षुप्रतिमा' अध्ययन में भाव निषेप की अपेक्षा से पिक्षुप्रतिमा का प्राप्त है। भाव निषेप की दृष्टि से पिक्षु प्रतिमाये— समाधि, उपधान, विवेक, प्रतिसंलीनता और एकलविहार, पाँच हैं। समाधि प्रतिमा के श्रुत समाधि और चारित्र समाधि दो भेद हैं। श्रुत समाधि के ६६ भेद निर्दिष्ट हैं। आचाराङ्क में वर्णित ४२, स्थानाङ्क के १६, व्यवहारसूत्र में चार, मोक प्रतिमा दो तथा चन्द्रप्रतिमा दो ($42+16+4+2+2$) को मिलाकर ६६ प्रतिमाये होती हैं। सामायिक आदि (सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात) पाँच चारित्र सम्बन्धी प्रतिमाये हैं।

उपधान प्रतिमा श्रमणों की बाह्य और श्रावकों की ग्यारह होती है। विवेक प्रतिमा अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार की है। अभ्यन्तर विवेक प्रतिमा कषायरूप है तथा बाह्य विवेक प्रतिमा गण (शरीर और भक्त-पान) है। प्रतिसंलीनता प्रतिमा इन्द्रिय और नोइन्द्रिय दो प्रकार की होती है। इन्द्रियप्रतिसंलीनता श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच प्रकार की होती है। आचार सम्पदा आदि आठ गुणों से युक्त पिक्षु की एकलविहार प्रतिमा होती है। उक्त गुणों से युक्त पिक्षु सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ़, बहुश्रुत, अचल, अरति, रसि, भय और भैरव (अकस्मात् भय) को सहन करने वाले होते हैं।

आठवें अध्ययन 'पर्युषणाकल्प' के प्रारम्भ में पर्युषणा के आठ पर्यायवाची शब्द उल्लिखित हैं। पर्यायवाची स्थापना (ठबणा) के छः द्वारों से निषेप के द्वारा अन्य सभी सात एकार्थक शब्दों का भी निषेप किया गया है। स्थापना का निषेप नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया गया है। कालस्थापना का प्ररूपण करते हुए कहा गया है कि ऋतुबद्ध (ग्रीष्म और शीतकाल के) क्षेत्र से वर्षाक्रियातु में निष्क्रमण और शारदकाल में प्रवेश का नियम है। ऋतुबद्धकाल में प्रतिमाधारी श्रमणों को एकदिन, यथालन्दियों को पाँच दिन, जिनकल्पी को एक मास, स्थविरकल्पी को

सामान्यतः: एक मास तक तथा विशेष परिस्थिति होने पर एक मास से कम या अधिक समय एक क्षेत्र में बास करने का नियम है। चातुर्मास क्षेत्र ग्रहण करने की स्वीकारोक्ति करने और न करने के सम्बन्ध में भी कालस्थापना के अन्तर्गत विचार किया गया है। चातुर्मास आरम्भ करने से अधिक पहले, चातुर्मास क्षेत्र ग्रहण की बात स्वीकार करने की स्थिति में किसी प्राकृतिक या मानवीय कारणों से उक्त क्षेत्र-विशेष से साधु के विहार करने पर श्रावकों में उसकी गरिमा की क्षमिता सम्भावना है।

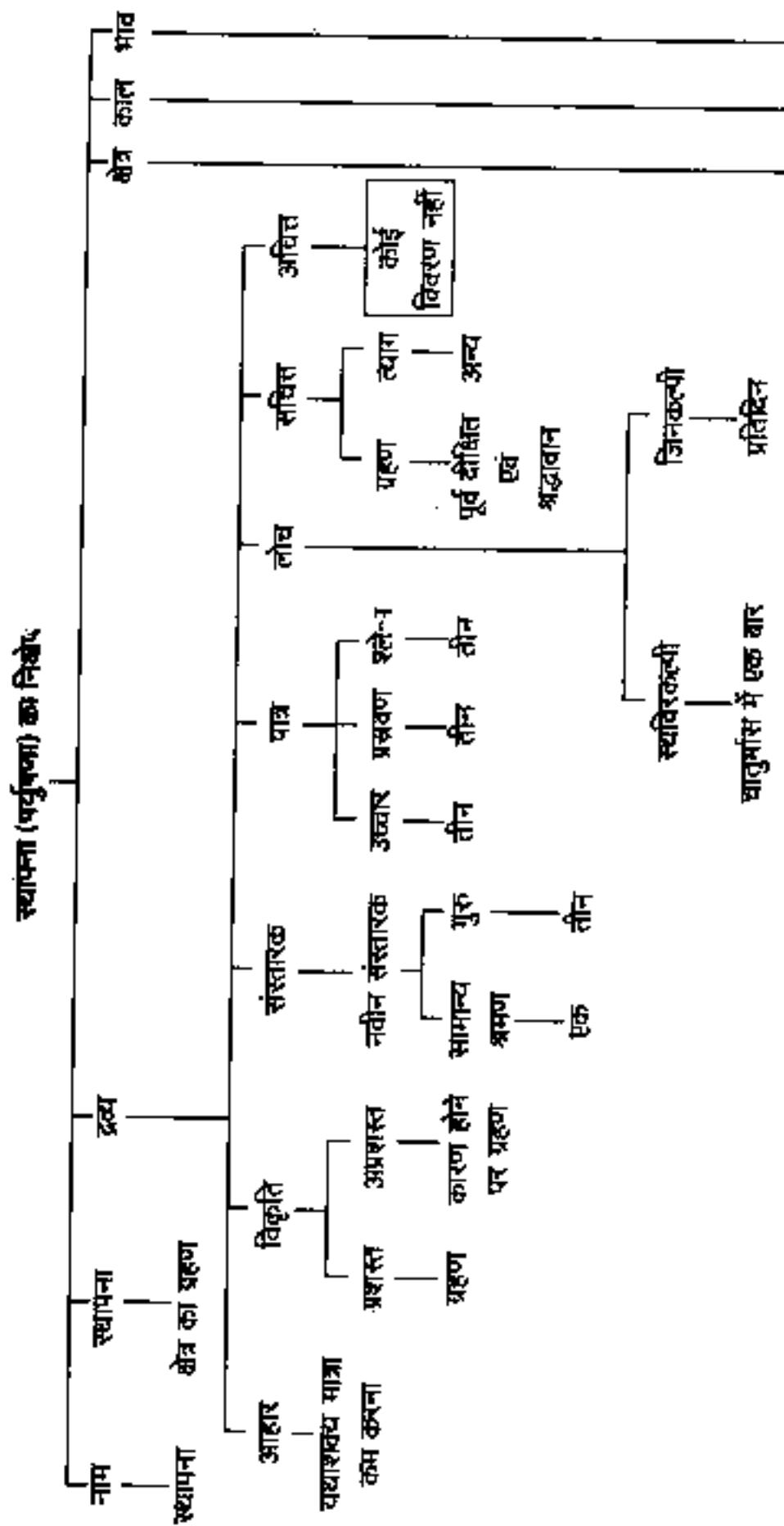
वर्षावास की अवधि ७० दिन, ८० दिन, तीन महीने, चार महीने, पाँच महीने और अधिकतम छः महीने बतायी गयी हैं। राजा के दुष्ट होने, सर्पभय, श्रमण के रूप हो जाने और स्थग्निल भूमि अप्राप्य होने पर चातुर्मास काल के मध्य में ही श्रमण द्वारा विहार कल्प्य है। इसीप्रकार अकल्याणकारी परिस्थिति, ऊनोदरी जल धारण करने, राजा के दुष्ट होने, वर्षा न रुकने, मार्ग दुर्गम या कीचड़ युक्त होने पर, चातुर्मास समाप्त हो जाने के बाद भी श्रमण द्वारा विलम्ब से विहार किया जा सकता है।

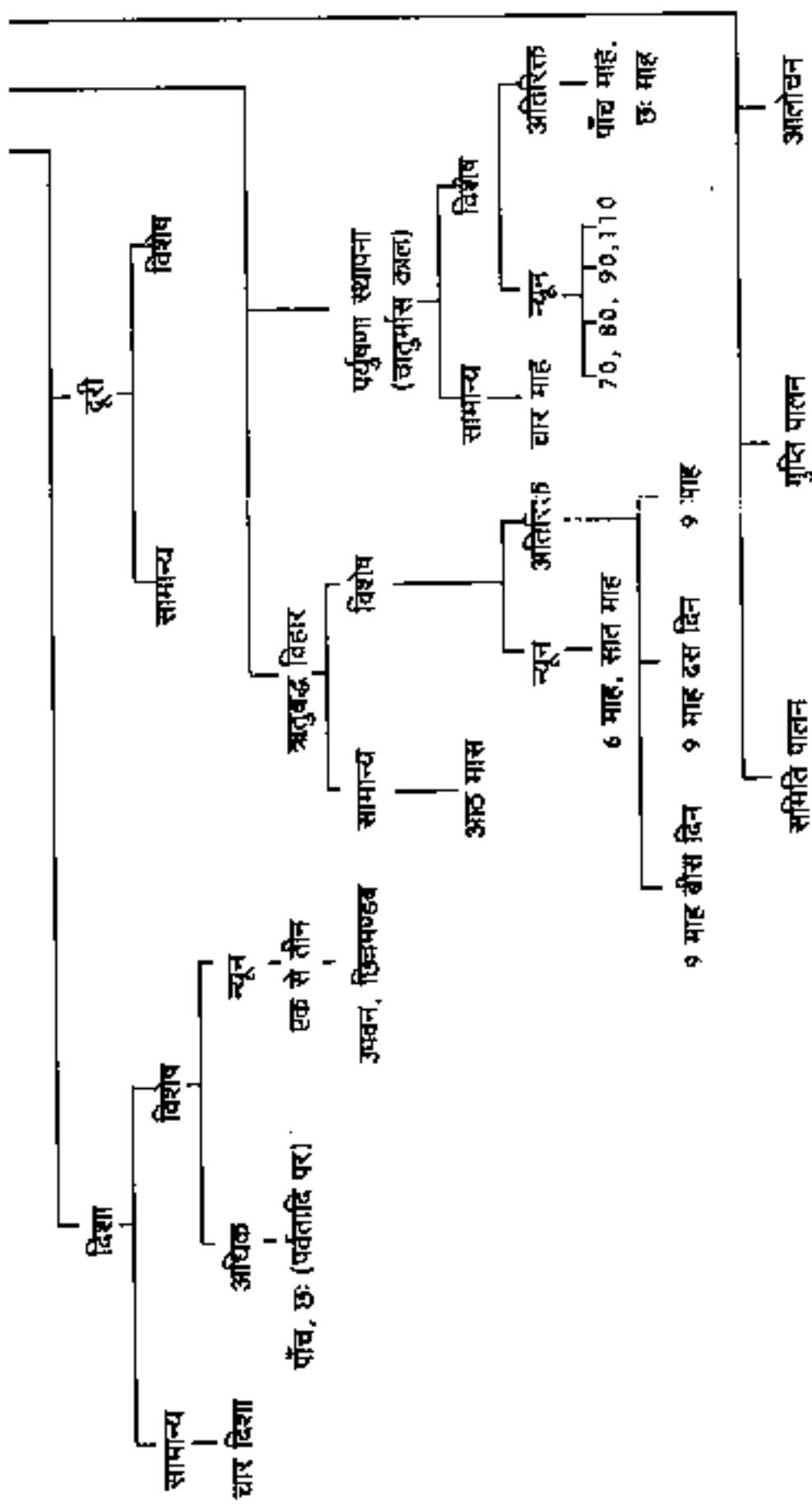
सामान्यतः: चातुर्मास स्थल के चारों दिशाओं में ढाई कोस (८ कि०मी०) तक इस प्रकार दोनों तरफ मिलाकर १६ कि०मी० तक क्षेत्र मर्यादा होती है। कारणवश इसका अपवाद हो सकता है। पर्वतादि पर स्थित चातुर्मास स्थल के सन्दर्भ में क्षेत्र की पाँच और छः दिशायें भी हो सकती हैं। गाँव यदि उपवन आदि के किनारे हो तो एक, दो और तीन दिशाओं में ही क्षेत्र हो सकता है। आहार, विकृति, संस्तारक, पात्र, लोच, सचित्त और अचित्त के त्याग, ग्रहण और धारण की दृष्टि से द्रव्यस्थापना निरूपित है।

क्षतुबद्ध काल की अपेक्षा चातुर्मास में आहार की मात्रा क्रमशः यथासम्भव कम कर देनी चाहिए। विकृति प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की होती है। प्रशस्त विकृति सामान्यतः, जबकि अप्रशस्त विकृति कारण पूर्वक ग्रहण की जानी चाहिए। वर्षावास हेतु नया संस्तारक ग्रहण करना चाहिए। गुरु दूसरों को भी संस्तारक प्रदान करते हैं, अतः तीन संस्तारक ग्रहण कर सकते हैं। उच्चार, प्रख्वण और श्लेष्म (कफ) हेतु साधुओं को तीन-तीन पात्र ग्रहण करने का विधान है। वर्षावास काल में जिनकलियों को नियमित लोच करना आवश्यक है, जबकि स्थविरकलियों के लिए केवल एक बार। सचित्त-त्याग के परिणीत्य में निर्दिष्ट है कि पूर्वदीक्षित और श्रद्धालान् के अतिरिक्त अन्य को दीक्षित करना बर्जित है। पाँच समितियों के पालन, गुण और दोषों की आलोचना, पाप न करने और पूर्व में किये गये पापों का प्रायश्चित्त करने का उपदेश है।

क्षमापना में कुम्भकार, उदायन-चण्डप्रदोत और चेट-द्रमक का दृष्टान्त, चारों कथायों के भेद-प्रभेदों का उपमा सहित निर्देश, क्रोध में मरुक (मरुत), मान में अत्यहङ्कारिणी भट्ठा, माया में पाण्डुराया, क्रोध में भूत्य द्रमक और लोभ में आर्यमङ्गु का दृष्टान्त निर्दिष्ट है। श्रमणों को संयम में आत्मा योजित करने का उपदेश है। इस अध्ययन

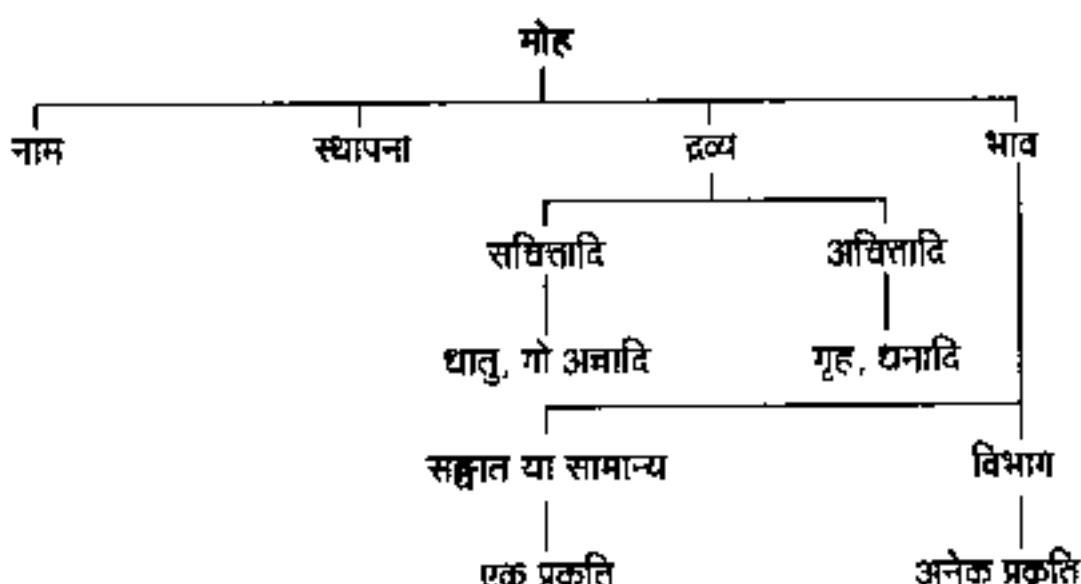
इस अध्ययन में प्रलिपित सामग्री को सारिणी ढारा निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं-





के अन्त में उपदेश दिया गया है कि ज्ञानार्थी, तपस्वी तथा असहनशील को, अनवरत बरसात होने पर भी, यतनापूर्वक गोचरी ग्रहण करनी चाहिए।

नवम 'मोहनीय' अध्ययन में मोह का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निष्क्रेपों में से द्रव्य और भाव निष्क्रेप द्वारा कथन करने का निर्देश है। द्रव्य निष्क्रेप से मोह सचित्त और अचित्त दो प्रकार का है। सचित्त मोह धातु, गो, अन्नादि और अचित्त मोह घृह, घन आदि है। भाव मोह सह्यात या सामान्य और विभाग रूप दो प्रकार का होता है। भाव मोह सह्यात दृष्टि से एक प्रकृति और विभाग दृष्टि से अनेक प्रकृति होता है। इसे निम्न सारिणी द्वारा इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

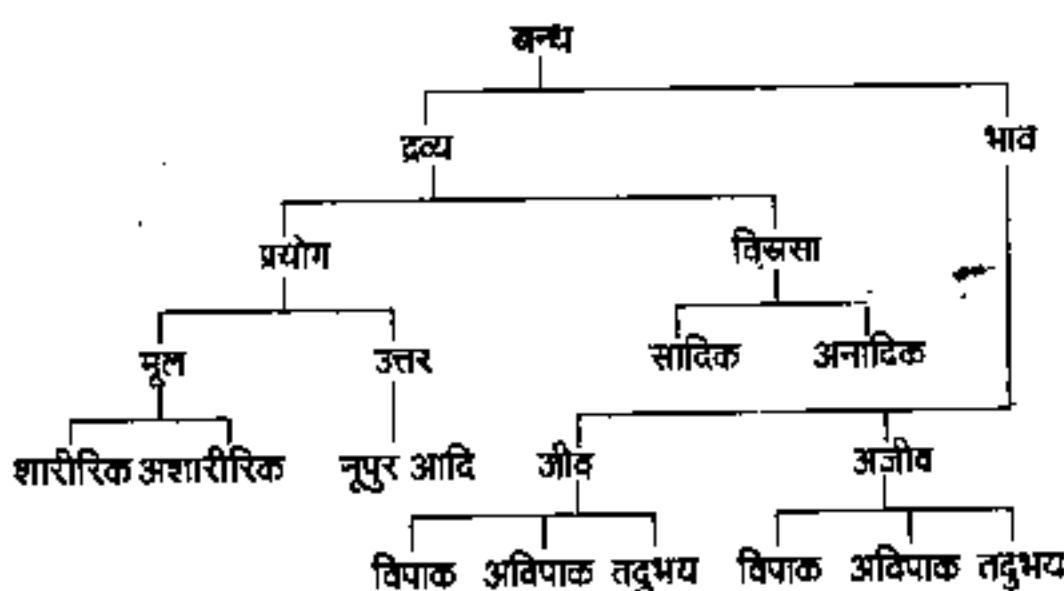


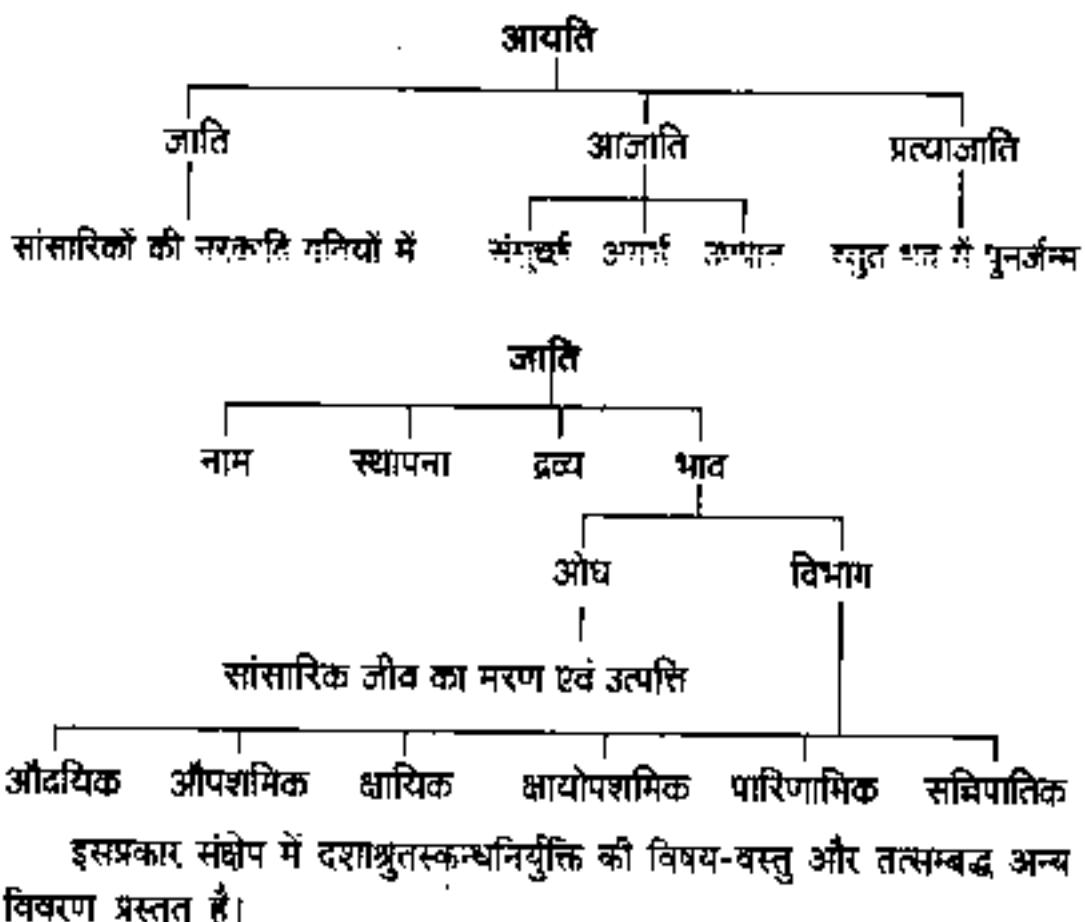
कर्मग्रवाद में वर्णित अष्टविधकर्म ही संक्षेप में मोह कहा गया है। उसके अनेक एकार्थक हैं। तीर्थद्वारों के अनुसार साधु, गुरु, मित्र, बान्धव, श्रेष्ठ और सेनापति के वध में गुरुबन्ध या महाबन्ध है। साधु को गुरु की आशातना और जिनवचनों का विलोपन, हनन या व्याधात नहीं करना चाहिए।

दशम 'निदान' अध्ययन के आरम्भ में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निष्क्रेपों में से भाव-निष्क्रेप द्वारा आयति का कथन करने का निर्देश है। द्रव्य-निष्क्रेप से, जाति या उत्पत्ति, उत्पन्न द्रव्य का स्वभाव है जबकि भावनिष्क्रेप से वह उत्पत्ति रूप अनुभवन है। निदानकृत कर्मफल का भोग-ओषध या सामान्य और विभाग-दो प्रकार का बताया गया है। ओषध अनुभवन से अभिश्राय सांसारिक जीवों की उत्पत्ति और मरण है। विभाग अनुभवन औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक छः भाव रूप हैं। इसी क्रम में उत्पत्ति के तीन घेद बताये गये हैं— जाति, आजाति और प्रत्याजाति। सांसारिकों की नरकादि गतियों में उत्पत्ति जाति है। संमूच्छ, अगर्भ, उपपात आदि अन्य प्रकार से जन्म आजाति हैं। जिस भव से जीव च्युत हुआ है, उसी भव में उसका पुनर्जन्म प्रत्याजाति है और यह केवल मनुष्य और तिर्यक की है।

इस अध्ययन में बन्ध का द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव निषेप से वर्णन है। द्रव्य बन्ध दो प्रकार का होता है— प्रयोगबन्ध और विस्तारबन्ध। प्रयोग बन्ध मूल और उत्तर दो प्रकार का होता है। मूलबन्ध के दो भेद होते हैं— शारीरिक और अशारीरिक। नूपुर या वेणी उत्तरबन्ध है। विस्तारबन्ध सादिक और अनादिक दो प्रकार का है। निषेप की दृष्टि से भाव बन्ध जीव और अजीव दो प्रकार का होता है। ये दोनों भाव तीन-तीन प्रकार के होते हैं— विपाक से बन्ध, अविपाक से बन्ध और तदुभय बन्ध। क्षेत्र और काल का निषेप-दृष्टि से विचार करते हुए कहा गया है— जिस क्षेत्र में बन्ध हो वह क्षेत्र बन्ध और जिस काल में बन्ध हो वह काल बन्ध है। भावनिषेप से निदान में कथाय बन्ध अधिकार अनेक विधियों और अर्थों में होता है। भावनिदान इहलौकिक और पारलौकिक दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत अध्ययन में पारलौकिक बन्ध का कथन है। निदान-दोष के कारण श्रमण का भव-भ्रमण अवश्यमावी बताया गया है। श्रमण जन्म-मरण से मुक्त कैसे होता है? और भव-भ्रमण क्यों करता है? इस परिषेक्य में निर्दिष्ट है कि अदूषित मूल और उत्तरगुण वाला, सदा संसार में अनासक्त, भक्त (आहार), उपधि और शाव्यासन में सदा शुद्धता और एकान्त का सेवन करने वाला तथा सदा अप्रस्तृत मोक्षगामी होता है। तीक्ष्णर, गुरु और साधु में भक्ति युक्त इन्द्रियजर्यी प्रायः सिद्ध होता है। तद्विपरीत, विषयाभिलाषी और असंयत को मोक्ष नहीं होता, निदान करने वाले निश्चित रूप से इस संसार में आते हैं। निदान दोष के कारण संयम मार्ग पर प्रयत्नशील भी श्रमण निश्चित रूप से उत्पत्ति या जन्म पाता है या संसार प्राप्त करता है। अतः अनिदान श्रेयस्कर है।

सुविधा के लिए बन्ध और आयति को निम्न सारिणी द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—





सन्दर्भ :

१. दशवैकालिकनिर्युक्ति - 'निर्युक्तिसंग्रह' हर्षपुष्पामृत, लाखाबाबल १९८९, पृ. ३२८ एवं ३६१।
२. प्रो० कापड़िया, 'कैनानिकल', सूरत १९४१, पृ. १८५।
३. एल० एल्सडोर्फ, "निष्केप - ए जैन कान्ट्रीच्यूशन टू स्कालस्टिक मेचडालाजी, 'जर्नल आब द ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट', ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट बहौदा, खण्ड-२२, अंक ४, जून १९७३, पृ. ४५५।
४. कापड़िया, 'कैनानिकल', सूरत १९८९, पृ. २१०।
५. वही, पृ. २११।
६. जे० शार्पेण्टर, उत्तराध्ययन सूत्र, उपशाला १९२२, भूमिका, पृ. ५०।
७. विशेषावल्यकाभाष्य, २/१ जिनमद्रगणि क्षमाक्रमण, ऋषभदेव केशरीमल शेलाम्बर जैन संस्था, रत्लाम १९३६, पृ. २२८।

८. सद्विशिष्टिः, ६/१, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५५।
९. तत्त्वार्थवातिक, (२/१), अध्याय १/५७, अकलशुद्धेव, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५३।
१०. तत्त्वार्थविग्रहभाष्य, स्वोपश उमास्थाति, १/५, देवलालपुण्ड, बम्बई १९२५।
११. बद्धाण्डाग्रम (धवला सहित, ३/१, २), सं० जैन एवं उपाध्ये, सोलापुर १९७३।
१२. प्र० सागरमल जैन, 'जैन धारा दर्शन', बी० एल० इंस्टीच्यूट ऑफ हण्डोलाजी, दिल्ली १९८६, पृ० ७७।
१३. एल०; अल्सडोर्फ, पूर्वोत्त., पृ० ४५५।
१४. अनुषोगङ्गारसूत्र, १४-१७, सं० मधुकरमुनि, जिनामग्रन्थमाला, सं० २८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८७।
१५. बद्धाण्डाग्रम (धवला), इष्टव्य- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, सं० जिनेन्द्रवर्णी, ज्ञानपीठ मूर्ति देखी जैन प्र०मा० : संस्कृत ग्र० ४० ४०, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (त०स०) १९९२, पृ० ५८९-६०१।



तृतीय अध्याय

छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : पाठ-निर्धारण

छन्द की दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अध्ययन से पूर्व इसकी गाथा संख्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। हर निर्युक्ति डे एडाशित संहिताओं द्वारा जैन विद्वान् के विद्वानों द्वारा प्रदत्त इसकी गाथा संख्या में अन्तर है। इसके दो प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं— पूल और चूर्णि सहित मणिविजयगणि घन्थमाला, भावनगर १९५४ संस्करण^१ और 'निर्युक्तिसङ्क्रान्ति' शीर्षक के अन्तर्गत सभी उपलब्ध निर्युक्तियों के माध्य विजयजिनेन्द्रसूरि द्वारा सम्पादित लाखाबाबल १९८९ संस्करण।^२

भावनगर संस्करण में गाथाओं की संख्या १४१ और लाखाबाबल संस्करण में १४२ है। जबकि वास्तव में लाखाबाबल संस्करण में भी १४१ गाथायें ही हैं। प्रकाशन-क्रुटि के कारण क्रमांक १११ छूट जाने से गाथा क्रमांक ११० के बाद ११२ मुद्रित है। फलतः गाथाओं की संख्या १४१ के बदले १४२ हो गई है, जो गलत है। अधिक सम्भावना यही है कि लाखाबाबल संस्करण का पाठ, भावनगर संस्करण से ही लिया गया है। इसलिए भी गाथा संख्या समान होना स्वाभाविक है।

'Government Collections of Manuscripts'^३ में एच०आर०कापडिया ने इसकी गाथा संख्या १५४ बताई है। 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास'^४ भाग-१ में भी इसकी गाथा सं० १५४ है। 'जिनरत्नकोश'^५ में यह संख्या १४४ है। कापडिया द्वारा अमनी पुस्तक 'A History of the Jaina Canonical literature of the Jainas'^६ में इस निर्युक्ति की गाथा संख्या के विषय में प्रदत्त विवरण अत्यन्त प्रामक है। वहाँ दी गई अलग-अलग अध्ययनों की गाथाओं का योग १४४ ही होता है।

वस्तुतः 'Government Collections' में प्राप्त अलग-अलग अध्ययनों की गाथाओं का योग १४४ ही है, १५४ का उल्लेख मुद्रण-दोष के कारण है। 'गद्बन्धेन्द्र कलेक्शन' का विवरण द्रष्टव्य है—

".....this work ends on fol. 5; 154 gāthās in all; Verses of the different sections of this nijjutti corresponding to the ten sections of Daśāśrutasandha are separately numbered as under :

असमाहिद्वाणनिज्जुति	११ Verses
सबलदोसनिज्जुति	३ Verses
आसायणनिज्जुति	१० Verses
गणिसंपयानिज्जुति	७ Verses
चित्तसमाहिद्वाणनिज्जुति	४ Verses
उवासगपडिमानिज्जुति	११ Verses
भिक्खुपडिमानिज्जुति	८ Verses
पञ्जोसवणाकप्पनिज्जुति	६७ Verses
मोहणिज्जाद्वाणनिज्जुति	८ Verses
आयतिद्वाणनिज्जुति	१५ Verses

... आचारदसाणं निज्जुती ॥७॥ गाथा १५४॥ (योग १४४)

जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग १ का विवरण भी सम्भवतः इसी स्रोत पर आधारित है। इसलिए १५४ गाथाओं का उल्लेख सही अर्थों में १४४ गाथाओं का ही माना जाना चाहिए। कापडिया का उत्तरवर्ती (*Canonical Literature*) विवरण निश्चित रूप से अपने पूर्ववर्ती विवरण पर ही आधारित होगा। परन्तु मुद्रण-दोष ने विवरण को पूरी तरह असङ्गत बना दिया है। उनके विवरण से प्रथम दृष्टि में इस निर्युक्ति में १२ अध्ययन होने का ग्रम हो जाता है— १, ११, ३, १०, ७, ४, ११, ८, ६, ७, ८ और १५। साथ ही इन गाथाओं का योग भी ९९ ही होता है जबकि ध्यान से देखने पर पता चल जाता है कि यह विसङ्गति निश्चित रूप से मुद्रण-दोष से उत्पन्न हुई है। इसमें शुरु का ९ और नौवें, दसवें क्रम पर उल्लिखित ६, ७ के मध्य का विषय, अनापेक्षित है। इस ९ को गणना से अलग कर देने और ६, ७ के स्थान पर ६७ पाठ हो जाने पर अध्ययन संख्या १० और गाथा संख्या १४४ हो जाती है और कापडिया के उक्त दोनों विवरण एक समान हो जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस निर्युक्ति की गाथा-संख्या १४४ और १४१ उल्लिखित है। यह संख्या-मेद पाँचवें अध्ययन में क्रमशः चार (१४४) और एक (१४१) गाथा प्राप्त होने के कारण है।

द०नि० की गाथा सं० निष्ठारित करने के क्रम में नि० आ० छ० का विवरण भी बहुत महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत निर्युक्ति के आठवें 'पर्युषणाकर्त्त्व' अध्ययन की सभी गाथायें नि० आ० के दसवें उद्देशक में उसी क्रम से 'इमा णिज्जुती' कहकर उद्धृत हैं। निर्युक्ति के आठवें अध्ययन में ६७ गाथायें और नि० आ० के दसवें उद्देशक के सम्बद्ध अंश में ७२ गाथायें हैं। इसप्रकार निर्युक्ति गाथाओं के रूप में उद्धृत पाँच

गाथायें अतिरिक्त हैं। नि० आ० में इनका क्रमांक ३१५५, ३१७०, ३१७५, ३१९२ और ३२०९ हैं। इन अतिरिक्त गाथाओं का क्रम द० नि० में गाथा सं० क्रमशः ६८, ८२, ८६, १०१ एवं १०९ के बाद आता है। नि० आ० में उल्लिखित अतिरिक्त गाथायें निम्न हैं —

पण्णासा पाडिज्जति, चठणह मासाण मज्जाओ ।
ततो उ सत्तरी होइ, जहण्णो वासुदेवगहो ॥३१५५॥
विगतीए गहणम्य वि, गरहितविगतिगगहो व कज्जम्य ।
गरहा लाभपाणो, पञ्चवयपावप्पहीवातो ॥३१७०॥
उगलच्छारे लेवे, छाण भहणे तहेव घरणे थ ।
पुंछण-गिलाण-मत्तग, भावण चंगाति हेतु से ॥३१७५॥
चउसु कहालेसु गती, नरय तिरिय माणुसे थ देवगती ।
उवसमह णिष्वकालं, सोगगड्यगर्गं विद्यार्णता ॥३१९२॥
आसिवे ओमोदरिय, रायदुहु भए व गेलणो ।
अब्दाण रोहए था, दोसु वि सुतेसु अप्पबहु ॥३२०९॥

इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि द० चू० (भावनगर) में ऊपर उल्लिखित गाथा सं० ६८ एवं ८६ की चूर्णि के रूप में प्राप्त विवरण में नि० आ० चू० के समान ही गाथा संख्या ३१५५ और ३१७५ की चूर्णि भी प्राप्त होती है। गाथा सं० ८२ के अंश नि० आ० की ३१६९ और ३१७० दोनों गाथाओं में प्राप्त होते हैं। ८२ की चूर्णि भी नि० आ० चू० की इन दोनों गाथाओं की समन्वित चूर्णियों के समान है। जबकि गाथा सं० १०१ की चूर्णि के साथ नि० आ० ३१९२ की चूर्णि और ११८ की चूर्णि के साथ ३२०९ की चूर्णि द० चू० में प्राप्त नहीं होती है। तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दोनों चूर्णियों के सम्बद्ध अंश को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

“कहं पुण सत्तरी? चठणह मासाणं सखीसं दिवससतं भवति, ततो सखीसतिरातो मासो पण्णासं दिवसा सोविला सोसा सत्तरिं दिवसा। जे भृवयबहुलस्स दसमीए पहुओसवेति तेसिं असीति दिवसा जेहुओगगहो, जे सावणपुलिमाए पहुओसविंति तेसिं णं जाडति दिवसा भजिणं जेहुओगगहो, जे सावणबहुलदसमीए ठिता तेसिं दसुत्तरं दिवससतं जेहुओगगहो, एवपर्याहिं पग्गरोहि वरिसारतं एगखेते अस्तिता कलत्तियबाडम्मासिए पिंगंतव्वं। अथ वासो न ओरमति तो यग्गसिरे मासे जहिवसं पक्कपमहियं जातं तहिवसं लेव णिगंतव्वं, उक्कोसेण तिल्लि दसराया न निगग्छेहु। यग्गसिरपुलिमा एसिवं भणियं होइ यग्गसिरपुलिमाए परेण जहु विष्वावंतेहि तहवि णिगंतव्वं। अथ न निगग्छुंति ता चबलहुगता। एवं पंचमासिओ जेहुओगगहो । — द० चू० १०

कहं सत्तरी ? उच्यते - चउण्हं मासाणं बीसुत्तरं दिवससयं भवति - सबीसतिमासो पण्णासे दिवसा, ते बीसुत्तरसयमज्ञाओ सोहिया, सेसा सत्तरी ।

जे भद्रवयबहुलदसमीए पञ्जोसवेति तेसि असीतिदिवसा मज्जिमो वासकालोगगहो भवति ।

जे सावणपुण्णिमाए पञ्जोसविंति तेसि णडति चेव दिवसा मज्जिमो चेव वासकालोगगहो भवति ।

जे सावण बहुलदसमीए पञ्जोसवेति तेसि दसुत्तरं दिवससयं मज्जिमो चेव वासकालोगगहो भवति ।

जे आसादपुण्णिमाए पञ्जोसविंति तेसि बीसुत्तरं दिवससयं जेद्गु वासुगगहो भवति । सेसतरेसु दिवसपमाणं वत्तव्वं । एवमादिपगरेहिं वरिसारतं एगखेते अच्छिता कत्तियचाउम्मासियपडिवयाए अवस्सं णिगंतव्वं ।

अहं मग्नसिरमासे वासति चिक्खल्लजलाउला पंथा तो अवकातेण एवकं उक्कोसेण तिण्ण वा— दस राया जाव तम्मि खेते अच्छिति, मार्गसिरपौर्णिमासीयावदित्यर्थः । मग्नसिरपुण्णिमाए ज्ञं परतो जति वि सचिक्खल्ला पंथा वासं वा गाढं अणुवरयं वासति जति विष्लवतेहिं तहावि अवस्सं णिगंतव्वं । अहं ण णिगंतव्वं तो चउगुरुगा । एवं पंचमासितो जेद्गुगगहो जातो ॥ ३१५५ ॥

— निं० भा० च० ॥

ताहे आओ असंचईआउ रक्कीरदहीसोगाहिमगाणिय ताओ असंचह्यातो घेप्पति संचह्यासो ण घेप्पति घततिलगुलणवणीतादीणि । पञ्जा तेसि खाते जाते जता कझुं भवति तदा ण अभर्ति तेण ताओ ण घेप्पति । अहं सह्या णिवंधेण निर्भतेति ताहे भण्णदि । जदा कञ्जं भविस्सति, तदा गोणहीहामो । बालादि-बालगिलाणदुहुसेहाण य बहूणि कञ्जाणि उप्पजंति, महंतो य कालो अच्छति, ताहे सह्या तं भणंति-जाव तुम्हे समुहिसय ताव, अत्यि चक्षारि यि मासा । ताहे नाऊण गोणहति जतणाए, संचह्यंपि ताहे घेप्पति, जथा तेसि सह्याणं सह्या बहुंति अदोच्छिङ्गे भावे चेव भणंति होतु अलाहिं पञ्जतंति । सा य गहिया चेरालदुखलाणं दिझति, बलियतरुणाणं न दिझति, तेसि यि कारणे विझाति, एवं पसत्थविगतिगहणं । अप्पसत्था ण घेतव्वा । सावि गरहिला विगती कझुणं घिष्यति । इमेण 'वासावासं पञ्जोसविताणं अत्थेगतियाणं एवं दुत्तपुष्वं भवति, अत्थो भंते गिलाणस्स, तस्म य गिलाणस्स वियदेणो पोग्गलेण वा कझुं से य युच्छितव्वे, केवतिएणं मे अहु जं से पमाणं वदति एवतिएणं यम कझुं तप्पमाणतो घेतव्वे । एतंपि कझुे वेज्जसंदिसेण वा, अणत्थ वा कारणे आगाहे जस्स सा अत्यि सोवि न विझाति तं च से कारणं दीविझाति । एवं जाहृति स माणे लभेझा जावे य तं पमाणं पत्तं भवति जं तेण गिलाणेण भणित-

ताहे भण्णति-होड अलाहित्ति वत्तव्यं सिया, ताहे तस्यापि प्रस्थयो भवति, सुख्यंते एते गिलाणद्वयाए मग्नंति, न एते अप्पणो उद्द्वाए मग्नंति। जति पुण अप्पणो अहुते वत्तव्यं तो विद्वांते नविकारंता जागतिष्ठं दिहति, जेवि य पाका सेसिं पढिधातो कतो भवति। तेवि जाणंति, जाया लिशि दत्तीड गेण्हंति सुख्यंते गिलाणद्वयाए सेणं एवं वदंतं अण्णाहि पढिग्यहेहिं भंते तुमंपि घोक्खासि वा पाहिसे वा, एवं से कप्पति पढिग्याहित्तए नो से कप्पति गिलाण जीस्साए पढिग्याहित्तए, एवं विगतिद्वयणा गता॥

- द० च० १३

पसत्थविगतीतो खीरं दहिं णवणीयं घयं गुलो तेल्ल ओगाहिरा च, अप्पसत्थ्याओ महु-मज्ज-मंसा। आयरिय-बाल-वुद्वाइयाणं कज्जेसु पसत्था असंचइयाओ खीराइया घेष्यति, संचतियाओ घयाइया ण घेष्यति, तासु खीणासु जया कज्जे तया ण लभ्यति, तेण तातो ण घेष्यति।

अह सद्वा णिब्बंधेण भणोज्ज ताहे से वत्तव्या — “जाया गिलाणाति कज्जं भविस्सति तया घेच्छामो, बाल-वुद्व-सेहाण य बहूणि कज्जाणि उप्पज्जंति, महंतो य कालो आच्छुयव्यो, तम्मि उप्पणे कज्जे घेच्छामो” त्ति।

महु-मज्ज-मंसा गरहियविगतीणं गहणं आगाढे गिलाणकज्जं “गरहालाभपमाणे” त्ति गरहंतो गेण्हति, अहो! अकज्जमिणं किं कुणिमो, अण्णहा गिलाणो ण पणणप्पइ, गरहियविगतिलाभे य पमाणपतं गेण्हंति, णो अपरिमितमित्यर्थः, जावतिता गिलाणस्स उबठव इति तंपत्ताए घेष्यमाणीए दातारस्स पच्चयो भवति, पावं णद्वा गेण्हंति ण जीहलोलयाए त्ति॥ ३१७०॥

- न० चा० च० १४

इदाणिं अच्छित्ताणं गहणं-छारडगलयमल्लयादीणं उदुवद्वे गहित्ताणं वासासु खोसिरणं, वासासु घरणं छारदीणां, जति ण गिण्हति भासलाहुं, जो य तेहिं विणा विराघणा गिलाणादीण भविस्सति। भायणविराघणा लेपेण विणा तम्हा घेत्तव्याणि, छारो एक्केकोणे मुंजो घणो कीरति। तस्मियावि किं विज्ञाति जदा णविकिंचि ताओ तदा छारपुंजे णिहम्मंति भा पणाइजिस्संति, उभतो काले पढिलेहिज्जंति, ताओ छारो य जताअवगासो षूमीए नस्थि, छारस्स तदा कुडगा भरिज्जंति, लेवो समाणेक्ण भायणस्स हेड्वा कीरति, छारेण उगर्गुडिज्जंति, स च भायणेण समं पढिलेहिज्जंति। अथ अच्छुंतव्यं भायणं फाल्यि ताहे भलंलयं लेवेडणं भरिज्जंति पढिलेहिज्जंति य।

- द० च० १५

छार-डगल-मल्लमातीणं गहणं, वासा डडुबद्धगहियाण वोसिरणं, बत्थातियाण घरणं, छाराइयाण वा घरणं, जति ण गेणहंति तो मासलहुं, जा य तेहिं विष्णा गिलाणातियाण विराहणा, भायणे वि विराधिते लेखेण विणा। तम्हा घेतव्याणि। छारो गहितो एककोणे घणो कज्जति। जति ण कज्जं तलियाहिं तो विगिचिज्जंति। अह कज्जं ताहि तो छारपुंजस्स मज्जो ठविज्जति। पणथमादि-संसज्जणभया उभयं कालं तलियाडगलादियं च सब्वं पडिलेहंति। लेवं संजोएता अप्पडिभुज्जमाणमायणहेढा पुफ्फगे कीरति, छारेण य उग्गुठिज्जति, सह भायणेण पडिलेहिज्जति, अह अप्पडिभुज्जमाणं भायणं णात्य ताहे भल्लगं लिंपिऊण पडिहत्यं भरिज्जति। एवं काणइ गहणं काणइ वोसिरणं काणइ गहणधरणं ॥ ३१७५ ॥

—नि० भा० चू० ११

नि० भा० चू० में उपलब्ध किन्तु द०नि० में अनुपलब्ध इन गाथाओं का विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी महत्त्व है। नि० भा० सं० ३१५४ व द०नि० गाथा ६८ में श्रमणों के सामान्य चातुर्मास (१२० दिन) के अतिरिक्त न्यूनाधिक चातुर्मास की अवधि का वर्णन है। उसमें ७० दिन के जबन्य वर्षावास का उल्लेख है। ३१५५वीं गाथा में ७० दिन का वर्षावास किन स्थितियों में दोता है यह बताया गया है जो कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से बिल्कुल प्रासङ्गिक और आवश्यक है।

गाथा सं० ३१६९ और ३१७० में श्रमणों द्वारा आहार ग्रहण के प्रसङ्ग में विकृति ग्रहण का नियम वर्णित है। उल्लेखनीय है कि द०नि० की ८२वीं गाथा के चारों चरण उक्त दोनों गाथाओं के क्रमशः प्रथम चरण (३१६९) और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण (३१७०) के समान हैं। इन दोनों गाथाओं का अंश निर्युक्ति में एक ही गाथा में कैसे मिलता है? यह विचारणीय है।

विकृति के ही प्रसङ्ग में अचित् विकृति का प्रस्तुपण करने वाली ३१७५वीं गाथा भी प्रासङ्गिक है क्योंकि द०नि० में सचित् विकृति का प्रतिपादन है परन्तु अचित् विकृति के प्रतिपादन का अभाव है जो असङ्गत है। अतः यह गाथा भी द०नि० का अन्त रही होगी। यही स्थिति शेष दोनों गाथाओं ३१९२ और ३२०९ की भी है।

इसप्रकार चूर्ण में इन गाथाओं का विवेचन और विषय-प्रतिपादन में साकाहक्षता द०नि० से इन गाथाओं के सम्बन्ध पर महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित करती हैं।

द०नि० की गाथा संख्या पर विचार करने के पश्चात् गाथाओं में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है— द०नि०, प्राकृत के मात्रिक छन्द 'गाथा' में निष्पद्ध हैं। 'गाथा सामान्य' के रूप में जानी जाने वाली यह संस्कृत छन्द आर्या के समान है। 'छन्दोऽनुशासन'^{११} की वृत्ति में उल्लिखित भी है— 'आर्यव संस्कृतेवर भाषासु गाथा संज्ञेति गाथा लक्षणानि' अर्थात् संस्कृत का आर्या छन्द ही दूसरी भाषाओं

में गाथा के रूप में जाना जाता है। दोनों — गाथा सामान्य और आर्या में कुल मिलाकर ५७ मात्रायें होती हैं। गाथा में चरणों में मात्रायें क्रमशः इसप्रकार हैं— १३, १८, १२ और १५। अर्थात् पूर्वादि के दोनों चरणों में मात्राओं का योग ३० और उत्तराद्वि के दोनों चरणों का योग २७ है।

'आर्या' और 'गाथा सामान्य' में अन्तर यह है कि आर्या में अनिवार्य रूप से ५७ मात्रायें ही होती हैं, इसमें कोई अपवाद नहीं होता, जबकि गाथा में ५७ से अधिक-कम मात्रा भी हो सकती है, जैसे ५४ मात्राओं की गाहु, ६० मात्राओं की उद्गाथा और ६२ मात्राओं की गाहिनी भी पायी जाती हैं। मात्रावृत्तों की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके चरणों में लघु या गुरु वर्ण का क्रम और उनकी संख्या नियत नहीं है। प्रत्येक गाथा में गुरु और लघु की संख्या न्यूनाधिक होने के कारण 'गाथा सामान्य' के बहुत से उपभेद हो जाते हैं।

द०नि० में 'गाथा सामान्य' के प्रयोग का बाहुल्य है। कुछ गाथायें गाहु, उद्गाथा और गाहिनी में भी निबद्ध हैं। सामान्य लक्षण वाली गाथाओं (५७ मात्रा) में बुद्धि, लज्जा, विद्या, क्षमा, देही, गौरी, धात्री, चूर्णा, छाया, कान्ति और महामाया का प्रयोग हुआ है।

गाथा सामान्य के उपभेदों की दृष्टि से अलग-अलग गाथावृत्तों में निबद्ध श्लोकों की संख्या इसप्रकार है— बुद्धि-१, लज्जा-४, विद्या-११, क्षमा-९, देही-२८, गौरी-२२, धात्री-२३, चूर्णा-१५, छाया-८, कान्ति-३, महामाया-३, उद्गाथा-९ और अन्य-४।

यह बताना आवश्यक है कि सभी गाथाओं में छन्द लक्षण घटित नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में, सभी गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं या निर्दोष हैं, ऐसी बात नहीं है कुछ गाथायें अशुद्ध भी हैं।

निर्युक्ति गाथाओं में गाथा-लक्षण घटित करने के क्रम में जो तथ्य सामने आते हैं वे इसप्रकार हैं—

इस निर्युक्ति में १४१ में से ४७ गाथायें गाथा लक्षण की दृष्टि से निर्दोष हैं अर्थात् इन ४७ गाथाओं में गाथा लक्षण यथावत् घटित हो जाते हैं। इनका विवरण निम्न सारणी में दिया गया है—

क्रम सं.	गाथा सं.	ग्र.	गुरु	लघु	मात्रा	गाथा नाम
१.	१	प्र.	१०	१०	५७	धात्री
		उ.	९	९		

२.	३	१२	६	६०	उद्गाथा
		११	८		
३.	४	११	८	५७	देही
		१०	७		
४.	९	१२	६	"	क्षमा
		१०	७		
५.	१४	१४	२	५७	विद्या
		९	९		
६.	१६	१०	१०	"	देही
		११	५		
७.	१८	११	८	"	"
		१०	५		
८.	२१	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
९.	२५	९	१२	"	चूर्णा
		९	९		
१०.	२६	११	८	"	देही
		१०	७		
११.	२८	९	१२	"	चूर्णा
		९	९		
१२.	३०	५	१७	५४	गाहू
		७	१३		
१३.	३७	११	८	५७	धात्री
		८	११		
१४.	३९	९	१२	"	"
		१०	७		
१५.	४२	९	१२	"	धात्री
		१०	७		
१६.	४४	११	८	"	गोरी

३१.	९४	९	१२	"	"
		७	१३		
३२.	९५	८	१४	"	महामाया
		७	१३		
३३.	९६	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
३४.	१००	८	१४	"	महामाया
		७	१३	"	
३५.	१०५	८	१४	"	चूर्णा
		९	७		
३६.	१०७	९	१२	"	"
		९	९		
३७.	१०९	१०	१०	"	धात्री
		९	७		
३८.	११२	१२	६	"	क्षमा
		१०	७		
३९.	११५	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
४०.	११९	१३	४	"	लज्जा
		११	५		
४१.	१२०	११	८	"	देही
		१०	७		
४२.	१२१	११	८		गौरी
		९	९		
४३.	१२३	११	८	५४	गाहू
		१०	४		
४४.	१२४	११	८	५७	देही
		१०	७		
४५.	१३४	११	८	"	गौरी

४६.	१३२	९	१२	५७	छाया
		८	११		
४७.	१४१	१०	८	"	गौरी
		९	९		

दस गाथाओं में चरण-विशेष के अन्तिमपद के गुरुवर्ण की हस्त के रूप में गणना करने से गाथा-लक्षण घटित हो जाते हैं तो सोलह गाथाओं में चरण-विशेष के अन्तिमपद के लघु वर्ण की गुरु के रूप में गणना करने से छन्द लक्षण घटित हो जाता है। कवि परम्परा के अनुसार छन्द-पूर्ति के लिए प्रयोजनानुरूप चरण के अन्तिम वर्ण के गुरु का हस्त और हस्त का गुरु उच्चारण या गणना करने का विधान है।^{१४} इन गाथाओं की सूची इसप्रकार है—

अन्तिम गुरु की लघु गणना करने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथाएँ—

क्र० सं०	गाथा सं०	चरण	गाथा
१	१३	पू०	धात्री
२	१५	उ०	क्षमा
३	१९	उ०	विद्या
४	२२	उ०	धात्री
५	३४	ठ०	गौरी
६	४१	पू०	"
७	४९	पू०	चूर्णा
८	११७	पू०	धात्री
९	१२५	पू०	गौरी
१०	१३९	ठ०	"

लघु की गुरु गणना करने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाने वाली गाथाएँ—

क्र० सं०	गाथा सं०	चरण	गाथा
१.	५	उ०	गौरी
२.	११	उ०	देही
३.	१७	ठ०	उद्गाथा
४.	२३	पू०	उद्गाथा

५.	२७	पू०	देही
६.	२९	पू०	विद्या
७.	३५	उ०	क्षमा
८.	३६	पू०	गौरी
९.	३८	उ०	"
१०.	५०	उ०	गाहू
११.	५५	उ०	देही
१२.	५७	उ०	गौरी
१३.	९०	उ०	चूर्णा
१४.	९६	उ०	बुद्धि
१५.	११०	पू०	धात्री
१६.	११६	पू०	क्षमा
१७.	१३५	पू०	देही
१८.	१३६	पू०	गौरी
१९.	१३७	पू०	विद्या

इसप्रकार द०नि० (१४१) की आधी से अधिक गाथायें ($४७+१०+१९=७६$) छन्द की दृष्टि से व्याख्याति में ही शुद्ध हैं।

अब ६५ गाथायें ऐसी शेष रहती हैं जिनका पाठ छन्द की दृष्टि से न्यूनाधिक रूप में अशुद्ध कहा जा सकता है। इनमें १४ गाथायें ऐसी हैं जिनमें प्राकृत व्याकरण के शब्द अथवा धातु रूपों के नियमानुसार गाथा-विशेष के एक या दो शब्दों पर अनुस्वार की वृद्धि कर देने पर गाथा-लक्षण घटित हो जाता है ऐसी गाथाओं की सूची इसप्रकार है—

प्राकृत शब्द अथवा धातु रूपों के अनुरूप अनुस्वार का हास एवं वृद्धि कर देने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथायें—

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन	गाथा
१.	२४	चरणेसु > चरणेसुं	देही
२.	३१	दुगेसु > दुगेसुं	महामाया
३.	४०	भिक्खुण > भिक्खुणं	गौरी
४.	६५	तेण > तेणं	धात्री
५.	७५	मोतूण > मोतूणं	गौरी
६.	७६	इयरेसु > इयरेसुं	छाया

७.	८५	वासासु > वासासुं	देही
८.	८६	मोतु > मोतुं	"
९.	१०२	बत्थेसु > बत्थेसुं	गौरी
१०.	१०६	गहण > गहणं	कान्ति
		कहण > कहणं	
११.	१११	णाड > णाडं	छाया
१२.	१२७	ठाणोण > ठाणोण	लज्जा
१३.	१२८	अणुभवण > अणुभवणं	धात्री
१४.	१४०	दोसेणु > दोसेणं	धात्री

द०नि० में ग्यारह गाथायें ऐसी हैं जिनमें प्राकृत व्याकरण के शब्द अथवा धातु रूपों के नियमानुरूप शब्द-विशेष में किसी हस्त मात्रा को दीर्घ कर देने पर और किसी दीर्घ मात्रा को हस्त कर देने पर छन्द लक्षण घटित हो जाता है। ये गाथायें निम्नलिखित हैं—

उपर्युक्त प्राकृत शब्द-धातु रूपों के अनुरूप स्वर को हस्त या दीर्घ कर देने और स्वर में वृद्धि या ह्रास करने से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथायें—

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन	गाथा
१.	७०	अणिंतस्सा > अणिंतस्स	चूर्णा
२.	७१	आरोवण > आरोवणा	विद्या
३.	८१	काईय > काइय	विद्या
४.	९७	उ > तो	क्षमा
५.	१०३	णो > ण	देही
६.	११४	णाणद्वी > णाणद्वि	गौरी
७.	११८	णाणद्वी > णाणद्वि	धात्री
८.	१२६	तो > तु	चूर्णा
९.	१३०	मणुस्स > मणुस्से	देही
१०.	१३१	असंजयस्सा > असंजयस्स	देही
११.	१३३	तीत्यंकर > तित्यंकर	गाथिनी

इस नियुक्ति में १८ गाथायें ऐसी हैं जिनमें छन्द-लक्षण घटित करने के लिए पादपूरक निपातों — तु, तो, खु, हि, व, वा, च, इत्यादि और इन निपातों के विभिन्न

प्राकृत रूपों को समाविष्ट करना पड़ता है। इन गाथाओं की सूची इस प्रकार है—
पादपूरक निपातों की वृद्धि करने से छन्द की दृष्टि से शुद्ध गाथायें

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन	गाथा
१.	२	उ०	'उ' वृद्धि
२.	६	ठ०	'हि' वृद्धि
३.	७	उ० च० अ० ख० 'ल'	विद्या
४.	८	प्र०	'उ' वृद्धि
५.	२०	उ०	'उ' वृद्धि
६.	४३	उ०	'च' वृद्धि
७.	५३	उ०	'च' वृद्धि
८.	४६	उ०	'च' वृद्धि
९.	५१	उ०	'य' वृद्धि
१०.	७३	उ०	'उ' वृद्धि
११.	७४	प०	'उ' वृद्धि
१२.	७९	उ०	'य' वृद्धि
१३.	८१	उ०	'उ' वृद्धि
१४.	८४	प०	'उ' वृद्धि
१५.	८५	उ०	'तु' वृद्धि
१६.	१२२	प०	'य' वृद्धि
१७.	१२९	उ०	'उ' वृद्धि
१८.	१३८	उ०	'अ' वृद्धि

इसप्रकार ४३ (१४, ११, १८) गाथाओं में छन्द की दृष्टि से पाठ-शुद्धि के लिए लघु संशोधनों की आवश्यकता है और इस तरह १२९ (७६, २३) गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती हैं।

सागभग २६ गाथाओं में गाथा लक्षण (घटित करने के उद्देश्य से) पाठान्तरों का में अध्ययन करने हेतु द०नि० की समान्तर गाथाओं का सङ्कलन किया गया है, जो पृष्ठ १९-११८ पर दी गई है। प्राप्त समानान्तर गाथाओं के आलोक में ही उक्त गाथाओं को छन्द की दृष्टि से शुद्ध किया गया है— शुद्ध की जाने वाली गाथाओं का क्रमांक, स्थानापन्न संशोधनों का विवरण नीचे सारिणी में दिया गया है—

क्र.सं.	गाथा	घरण	संशोधन	आधारप्रन्थ	गाथा
५.	४१	३०	तव > तवमि	निंभा०	लज्जा
६.	१०	पू०	ओवरई > ओवरइ	द०चू०	चूर्णा
		३०	न का ग्रहण	द०चू०	
७.	१२	३०	वइवकम > वहवकमे चार्थक अ की वृद्धि	द०चू०	यात्री
८-९	३२-३३	३०	दत्त > दत्ते उयणाईसु > ओयणाईसुं	द०नि०	देही
१०.	४१	३०	तव > तवमि	निंभा०	लज्जा
११.	५४	३०	'काले' की वृद्धि	द०चू०	लज्जा
१२.	५८	पू०	उणाइरित्त > ऊणातिरित्त	निंभा०	विद्या
१३.	५९	३०	चिकखल > चिकखल	निंभा०	विद्या
१४.	६०	३०	अपडिककमितं > अप्पडिककमितुं	निंभा०	देही
१५.	६३	पू०	गतव्यं > ठायव्यं	निंभा०	देही
१६.	६४	पू०	बाहिं लितति > बाहिट्टिया	निंभा०	क्षमा
१७.	६६	पू०	'ण' छूट गया है प्रकाशनदोष	निंभा०	गौरी
१८.	६८	३०	मिगसिरे > मगसिरे	निंभा०	चूर्णा
१९.	६९	पू०	ठियाणङ्गतीएमगगसीरे > ठियाणङ्गतीतमगगसिरे	निंभा०	देही
		३०	होति > भणितो	निंभा०	
			गतव्यं > ठिगमणं	निंभा०	
२०.	७०	३०	अणितस्सा आरोवण > अणिंताणं आरोवण	ब०क०भा०	विद्या
२१.	७८	३०	जंघद्वे कोवि > जंघद्वेकोवि	निंभा०	यात्री
२२.	८०	पू०	पुञ्चाहारोसवण > पुञ्चाहारोसवणं	निंभा०	यात्री
		३०	सत्तिउगहणं > सत्तिओ गहणं		
			संचइय > संचइए		
			पसत्था उ > पसत्थाओ		

ल.सं.	गाथा	चरण	संशोधन	आधारप्रनय	गाथा
१८.	८३	पू०	कारणाओ > कारणे	निभा०	देही
१९.	८७	पू०	संपाइमवहो > संपातिवहो नेहछेओ > नेहछेदु	निभा० निभा०	दात्री
२०.	९२	पू०	दुरुत्तम > दुरुतगो	निभा०	देही
२१.	९८	उ०	खिंसण वा ॒ खिंसणहिं	निभा०	गूर्णा
२२.	१०१	उ०	अवलेहणीया किमिराग कद्म कुसुंभय हलिदा > अवलेहणि किमि कद्म कुसुंभरागे हलिदा य	निभा०	दात्री
२३.	१०४	उ०	अणुयतीह > अणुयतीहिं	निभा०	दात्री
२४.	१०८	उ०	पुच्छति य पडिक्कमणे पुच्छभासा चउथम्मि > पुच्छ तिपडिक्कमणे, पुच्छभासा चउथंपि	निभा०	गौरी
२५.	११३	पू०	मंगल्लं > तु मंगलं	निभा०	छाया
२६.	१३०	उ०	मणुस्स > मणुस्से	द०च०	देही

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुछ गाथाओं को, उनमें प्राप्त शब्द-विशेष को समानान्तर गाथाओं के परिप्रेक्ष्य में व्याकरण की दृष्टि से संशोधित कर शुद्ध कर सकते हैं जैसे गाथा सं० १२, ४७, ६३, ८३, ९२, ९८, १०४ और १३०।

गाथा सं० ५९, ६९, ७८, ८०, ८९, ११३ और १४१ समानान्तर गाथाओं के पाठों के आलोक में और साथ ही साथ प्राकृत भाषा के व्याकरणानुसार वर्तनी संशोधित कर देने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती है।

गाथा सं० ६३ और ६९ समानान्तर गाथाओं के अनुरूप एक या दो शब्दों का स्थानापन्न समाविष्ट कर देने से छन्द की दृष्टि से निरोप हो जाती है।

गाथा सं० ५४ और ५८ में क्रमशः 'काले' और 'मासे' को छन्द-शुद्धि की दृष्टि से जोड़ना आवश्यक है। उक्त दोनों शब्द इन गाथाओं के सभी समानान्तर पाठों में उपलब्ध हैं। गाथा सं० १० और ६६ में 'ण' की वृद्धि आवश्यक है। इन शब्दों को समाविष्ट करना विषय-प्रतिपादन को युक्तिसङ्कृत बनाने की दृष्टि से भी आवश्यक है। सम्भव है उक्त गाथाओं में 'काले', 'मासे' और 'ण' का अभाव मुद्रण या पाण्डुलिपि-लेखक की भूल हो सकती है। गाथा सं० १०१ और १०८ समानान्तर

गाथाओं के आलोक में सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध को बदलने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध होती है।

इस निर्युक्ति की गाथाओं से, गाथाओं के समानान्तर पाठालोधन के क्रम में कुछ अन्य उल्लेखनीय तथ्य भी हमारे समझ आते हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है गाथा सं० ८२ के चारों चरण, नि० भा० की दो गाथाओं ३१६९ और ३१७० में प्राप्त होते हैं।

इसीप्रकार गाथा सं० ८६ में प्राप्त 'संविग्रह' और 'निहओ भविस्सइ' के स्थान पर नि० भा० की गाथा ३१७४ में क्रमशः 'सचित' और 'होहिंतिणिधम्मो' प्राप्त होता है। इन दोनों भाषणों में शब्दों का अन्तर हीमें पर भी मात्राओं का समायोजन इस प्रकार है कि छन्द-रचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

द०नि० में दृष्टान्तकथाओं को, एक या दो गाथाओं में उनके प्रमुख पात्रों तथा घटनाओं को सूचित करने वाले शब्दों के माध्यम से वर्णित किया गया है। इन्हित नामादि भी समानान्तर गाथाओं में भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होते हैं। पर इनमें भी मात्राओं का समायोजन इसप्रकार है कि छन्द-योजना अप्रभावित रहती है। चम्पाकुमारनन्दी (गाथा ९३) के स्थान पर नि० भा० ३१८२ में चंपा अणंगसेनो और वणिधूयाऽच्चंकारिय (१०४) के स्थान पर धणधूयाऽच्चंकारिय (नि० भा० ३१९४) प्राप्त होता है।

जो गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध भी हैं उनकी समानान्तर गाथाओं में भी छन्द-भेद और पाठ-भेद प्राप्त होते हैं। निर्युक्ति की गाथा सं० ३ 'बाला मंदा' स्थानाङ्क, दशवैकालिकनिर्युक्ति, तनुलवैचारिक, नि० भा० और स्थानाङ्क-अध्यदेववृत्ति में पायी जाती है। इन ग्रन्थों में यह गाथा चार भिन्न-भिन्न गाथा छन्दों में निबद्ध है और सभी छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं। द०नि० में यह गाथा ६० मात्रा वाली उद्गाथा, स्थानाङ्क, द०नि० और स्थानाङ्कवृत्ति में यह गाथा ५७ मात्रा वाली गौरी गाथा में व प्रकीर्णक तनुलवैचारिक में क्षमा गाथा में तो नि० भा० में ५२ मात्रावाली गाहू गाथा में निबद्ध है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाठान्तर केवल त्रुटियों का ही सूचक नहीं है अपितु ग्रन्थकार या रचनाकार की योजना के कारण भी गाथाओं में पाठ-भेद हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी प्राचीन ग्रन्थ का पाठ-निर्धारण एक कठिन और बहुआयामी समस्या है फिर भी गाथाओं का छन्द की दृष्टि से अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। छन्द-दृष्टि से अध्ययन करने पर समानान्तर गाथाओं के आलोक में गाथा-संशोधन के अलावा विषय-प्रतिपादन को भी सङ्गत बनाने में सहायता है।

एल० एल्सडोर्फ^{१०} के इस अभिमत को कि प्राचीन जैनाचार्यों ने गाथाओं की रचना में छन्दों और प्राकृत भाषा के नियमों की उपेक्षा की पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर यह धारणा बनती है कि उक्त अशुद्धियाँ पाण्डुलिपियों के लेखक, सम्पादक और किञ्चित् अंशों में मुद्रण-दोष के कारण भी निर्युक्तियों में आ गई हैं। हाँ, कुछ अंशों में निर्युक्तिकार का छन्द और व्याकरण के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण भी उत्तरदायी हो सकता है।



सन्दर्भ :

१. दशाश्रुतस्कन्ध-पूल-निर्युक्ति-चूर्णि, मणिविजयगणि ग्रन्थमाला, सं० १४, भावनगर १९५४।
२. “दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति”, ‘निर्युक्तिसंक्षेप’ सं० जिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पमृत जैन ग्र०मा०, १८९, लाखाबाले १९८९, पृ० ४७६-४९६।
३. H.R. Kapadia, ‘Government Collection of Manuscripts’, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, खण्ड १७, भाग-२, पूना १९३६, पृ० ६७।
४. जैनसाहित्य का बहुदृष्टिहास, भाग १, पा०वि०ग्र०मा०सं० ६, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, द्वि०सं० १९८९, पृ० ३४।
५. संग्रा०ह०दा० बेलणकर, जिनरत्नकोश, खण्ड एक, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९४४, पृ० १७२।
६. H.R. Kapadia, ‘A History of the canonical Literature of Jainas’ लेखक, सूत १९४१, पृ० १८२।
७. कापड़िया, ‘Government Collection’, ओरिएण्टल, पूना १९३६, पृ० ६७।
८. कापड़िया, ‘Canonical’, सूत १९४४, पृ० १८२।
९. निशीथसूत्रम् (भाष्य एवं चूर्णि सहित), सं० आचार्य अमरमुनि, ग्र०मा०सं० ५, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली और सन्मति ज्ञानपीठ, राजगृह, उद्देशक १०, गाथा ३१३८-३२०९, (भाग ३)।
१०. द०चू०, मणिविजय ग्र०मा० १४, भावनगर १९५४, पृ० ५५।
११. नि० भा०चू०, ३, अमरमुनि, ग्र०मा० सं० ५, दिल्ली, राजगृह, पृ० १३२।
१२. द०चू०, भावनगर १९५४, पृ० ५७।
१३. नि० भा०चू०, दिल्ली, राजगृह, पृ० १३५-१३६।

१४. द० चू०, मावनगर १९५४, पृ० ५८।
१५. नि० आ० चू०, दिल्ली, राजगृह, पृ० १३७।
१६. सं० प्रो० ह० दा० वेलणकर, छन्दोऽनुशासन (हेमचन्द्र), भारतीय विद्या भवन, बम्बई १९६६, दृ० १२८।
- १७.१. बुद्धि (१) गाथा सं० ९६।
२. लज्जा (४) गाथा सं० ८, ५४, ११९, १२७।
३. विद्या (११) ६, १४, १९, २१, ५८, ५९, ६१, ७१, ७७, १२२, १३७।
४. क्षमा (९) ९, १५, २३, ३५, ६४, ७२, ९७, ११२, ११६।
५. देही (२८) ४, ११, १६, १८, २४, २६, २७, ३२, ४७, ४८, ५५, ५६, ६०, ६२, ६३, ६९, ७९, ८३, ८४, ८५, ८६, ८८, ९२, १०३, १२०, १२४, १३०, १३५।
६. गौरी (२२) ५, २०, ३४, ३६, ३८, ४०, ४१, ४४, ५७, ६६, ७५, ९१, १०२, १०८, ११४, १२१, १२५, १३१, १३४, १३६, १३९, १४१।
७. आकी (२२) १, १२, १३, २१, २२, ३७, ३९, ४३, ६५, ६७, ७८, ८०, ८१, १०१, १०४, १०९, ११०, ११५, ११७, ११८, १२८, १४०।
८. चूर्णा (१५) १०, २५, २८, ४९, ५१, ५३, ६८, ७०, ८२, ९०, ९८, १०५, १०७, १२६, १३८।
९. छाया (८) ७, ५०, ७६, ८१, ८७, १११, ११३, १३२।
१०. कान्ति (३) ९३, ९४, १०६।
११. महामाया (३) ३१, ९५, १००।
१२. उद्गाया (८) २, ३, १७, २३, ४६, ५२, ७३, १२८।
१३. अन्य (३)
१४. हस्तामामपि गुरुत्वम् इति अभिप्रायो वा; छन्दोऽनुष्ठारी—कर्ता गङ्गादास, व्याख्याकार डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाटी, चौखम्बा सुरभारती, ग्रन्थमाला ३६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७८, पृ० ९।
१५. देखिए, समानान्तर गाथाओं का विवरण, पृ० ९९-११८।
१६. W.B. Bolee, *The Nijutties on the seniors of the Svetāmbara Siddhānta* फैज स्टेनर वल्ली, स्टुअर्ट १९९५, प्रस्ता०, पृ० ६।

नियुक्ति ग्राथा – समाजान्तर ग्राथा

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्तिः गाथा

वंदामि महावाहुं पाइणं चरिमसवलमुष्यनाणे ।
 सुतस्स कारगमिसि दसासु कप्ये च वधाहारे ॥१॥
 बाला पंदा किन्तु बला य पण्णा य हायणिपवंचा ।
 पद्मारमुभुक्ति रुपवति भवेति य रुपमुणोहिं दसा ॥३॥
 दर्खं जेण च दर्खेण साधणी आहियं च जं दर्खं ।

आवो सूसमाहितया चीवत्स यसत्यजोगेहिं ॥९॥
 नामं ठवणा दविए लोकदा उम् ओवराई वसडी ।
 संज्ञमपगग्नेहे अबलगणणासंघणाशावे ॥१०॥

मिळा पङ्किवत्तीए जे भावा जस्थ होति सञ्चुआ ।
 तेसि तु वितह पङ्किवत्तजाए आसाधणा तम्हा ॥११॥

आयारंमि आहीए जं नाओ होह समणाश्चमो ड ।
 तम्हा आयारवरो भणणाई पर्हमं गणिकुण ॥२७॥

समानान्तर गाथायें

१. वंदामि भद्रामुं पाईणं चरिमसगलसुवनाणी ।
स-तत्त्व (स्स) कारणमिंसि दसाणकप्ते य बवहारे ॥६॥ पञ्च.भा.
२. १ - बाला किञ्चु य मंदा य बला य पण्णा य हायणी ।
पंद्राप बज्मारा य मुम्मुही सायणी तथा ॥१०॥ - १५४ - स्त्रा.
२ - बाला किञ्चु मंदा बला य पण्णा य हायणि पवंचा ।
पञ्चार भम्मुही सायणी य दसमा ३ कालदसा ॥१०॥ दश.नि.
- ३ - बाला^१ किञ्चु^२ मंदा^३ बला^४ य पण्णा^५ य हायणी^६ पवंचा^७ ।
बज्मारा^८ मुम्मुही^९ सायणी य^{१०} दसमा य कालदसा ॥४५॥ त०व०.
- ४ - बाला मंदा किञ्चु बला पण्णा य हायणी ।
पवंचा पञ्चारा य मुम्मुही सायणी तहा ॥३५४५॥ नि.भा. ४
५. हृष्ट जेण व दख्षेण समाही आहिअ च जं दख्ट ।
भाव समाहि चबधिवह दंसणनाणे तव आरिते ॥३२७॥ दश.नि.
६०. १ - णार्म ठवणा दविए खिलद्वा उळु उवरई वसही ।
संजय परगह जोहे अचल गणण संषणा भावे ॥१७५॥ आचा.नि.
२ - नार्म ठवणा दविए खेलद्वा उळु उवरती वसही ।
संजय परगह जोहे अचल गणण संषणा भावे ॥१६७॥ सूत्र.नि.
३ - नार्म ठवणादविए खिलद्वा उळु उवरई वसही ।
संजय परगह जोहे अचल गणण संषणा भावे ॥५२२॥ नि.भा., १
४ - नार्म ठवणा दविए खेलद्वा उळुओ विरति वसही ।
संजय परगह जोहे, अचल गणण संषणा भावे ॥६२९६॥ नि.भा., ४
११. मिळापडिवसीए जे भावा जस्त्व होति सञ्जूया ।
तेसु चितहं पडिवज्ज्ञाना च आसायणा तम्हा ॥२६४८॥ नि.भा.२
२७. आयारम्मि आहीए जं नाओ होइ समणाथम्मो उ ।
तम्हा आयारम्भरो भण्णाइ पठमं गणित्वाणी ॥१०॥ आचा.नि.

दंसणवथसामाइयपोसहपडिमा अबंभसचिवते ।
 आरंभपेसवद्विष्वज्जाए समणभूए अ ॥४३॥

पञ्जोसमणाए अक्खाराङ्ग होति ड हमाङ्ग गोणणाङ्ग ।
 परियायवथवथवणा पञ्जोसमणा य यागङ्गाया ॥५२॥
 परिवसणा पञ्जुसणा पञ्जोसमणा य बासवासो या ।
 पदमसमोसरणं ति य ठवणा जट्टोगगहेगहा ॥५३॥
 ठवणाए निक्खेवो छक्को दख्चं च दख्चनिक्खेवो ।
 खेतं तु जम्मि खेसे कालो जहिं जो ड ॥५४॥
 ओदइयाईयाणं भावाणं जा जहिं भवे ठवणा ।
 भावेण जेण य पुणे, उविज्ञाए भावठवणा ड ॥५५॥
 सामिते करणम्मि य, अहिगरणे खेव होति छक्मेथा ।
 एगलपुहसेहि, दख्चे खेतउद्धभावे य ॥५६॥
 कालो समयादीओ, पगचं समयम्मि तं परुवेस्सं ।
 निक्खामणे य पवेसे, पाडससरए य दोक्छायि ॥५७॥
 उणाङ्गिरित भासे अमु विहरिक्षण गिलहेयंते ।
 एगाहं यंत्राहं, भासं च जहा समाहीए ॥५८॥

४३. १ - दंसणवयसामाहृय पोसह पडिमा अबंभ सञ्चासे ॥

आरम्भपेस उद्दिष्टु वज्जाए समणभूए य ॥४॥ आव०न०

२ - दंसण वय सामाहृय पोसह सञ्चित्त रायभत्ते य ।

बंधारंभपरिगगह अणुमण उद्दिष्टु देसविरदो य ॥२२॥ आ०ग्रा०

३ - दंसणवयसामाहृय पोसहसञ्चित्तरायभत्ते य ।

बंधारंभपरिगगह अणुमणमुद्दिष्टु देसविरदेदे ॥६९॥ र०सा०

४ - दंसणवयसामाहृय, पोसहसञ्चित्तरायभत्ते य ।

बंधारंभपरिगगह, अणुमणमुद्दिष्टु देसविरदेदे ॥४७७॥ गो०सा०

५ - दंसणवयसामाहृय पोसहसञ्चित्तरायभत्ते य ।

बंधारंभ परिगगह अणुमणुद्दिष्टु देसविरदेदे य ॥६६॥ अङ०प०

६ - दंसण^१ वय^२ सामाहृय^३ पोसह^४ पडिमा^५ अबंभ^६ सञ्चित्ते^७ ।

आरंभ^८ येस^९ उद्दिष्टु^{१०} वज्जाए समणभूए^{११} य ॥१८०॥ प्र०सा०

५२. पज्जोसवणाए अबन्धराह होंति उ इपाहं गोणणाहं ।

परियायवत्त्ववणा, पज्जोसवणा य पाणहृता ॥३१३८॥ नि�०भा०, ३

५३. परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसवणा य वासवासो य ।

पद्मसमोसरणं ति य, ठवणा जेकुणगहेगम्हा ॥३१३९॥ नि�०भा०, ३

५४. ठवणाए निक्खेवो, छक्को दल्यं च दल्यणिक्खेवो ।

खेतं हु अभ्य खेते, काले कालो जाहिं ज्ञो उ ॥३१४०॥ नि�०भा०, ३

५५. ओद्दियादीवाणं, भावाणं जो जाहिं भवे ठवणा ।

भावेण जेण य पुणो, ठवेज्ज ते भावठवणा तु ॥३१४१॥ नि�०भा०, ३

५६. सामिते करणम्भ य, अहिकरणे चेव होंति छक्मेया ।

एगत-पुहुत्तेहिं, दल्ये खेते य भावे य ॥३१४२॥ नि�०भा०, ३

५७. कालो समवादीवो, पगवं कालम्भ तं परलवेस्तं ।

निक्खमणे य यवेसे, पाठस-सरए य चोच्छामि ॥३१४३॥ नि�०भा०, ३

५८. अणातिरित्तमासे, अद्विहरिक्षण गिम्ह-हेमंते ।

एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए ॥३१४४॥ नि�०भा०, ३

काउण मासकर्णं, तत्त्वेष उवागयाण ऊणा ते ।
 लिङ्कम्भाल बास रोहेण बा वि तेण ह्रिया ऊणा ॥५९॥
 बासाखेतालंभे, अद्वाणादीम् पत्तमहिंगातो ।
 साहगवाधाएण व अपडिक्कमितं जड वर्णति ॥६०॥
 पडिमापडिवप्राणं एगाहे पंच होतउहालंदे ।
 लिणसुद्वाणं मासो लिङ्कारणओ य थेराणं ॥६१॥
 ऊणाइरित मासा श्वं थेराण अहु णायत्वा ।
 इवरे अहु विहरिं णियमा चत्तारि अचक्षति ॥६२॥
 आसाहुगिर्वाहु, बाघावालंजु शोति विलवे ।
 मग्गसिरबहुलदसमीउ जाव एककम्बि खेतम्बि ॥६३॥

बाहिं ठित्तति दसभेहिं खेतं गाहेतु बासपाओगं ।
 कर्णं कहेतु ठवणा, सावणउसुद्वस्स पंचाहे ॥६४॥

एत्य तु अणमिगगहिर्य वीसलिराथं सवीसतीमासं ।
 तेण परममिगगहिर्य गिहिणातं कसिओ जाव ॥६५॥

असिवाइकारणेहिं आहवा बासं ण सुषु आरवं ।
 अहिवहियम्बि वीसा इपरेसु सवीसङ्ग मासो ॥६६॥

५९. काङ्ग मासकप्पं, तस्येव ठवागयाण उणा व ।
विवरजल्लवासरोहेण वा वितीए ठिता घूणं ॥ ३१४५ ॥ निं.भा०, ३
६०. वासाखेतालंचे, अमाणादीसु पल्लवहिणा तु ।
साधग-थायातेण व, अप्पडिकमिरु जति वंशति ॥ ३१४६ ॥ निं.भा०, ३
६१. पडिमापडिवणणां, एगाहो पंथ होंतऽहालंदे ।
जिण-सुद्धाणं भासो, निवक्तारणतो य थेराणं ॥ ३१४७ ॥ निं.भा०, ३
६२. ऊणातिरित्तमात्सा, एवं थेराण अहु णायत्वा ।
इयरेसु अहु रियिं, यियमा चत्तारि अच्छंति ॥ ३१४८ ॥ निं.भा०, ३
६३. १ - आसाडपुणिणमाए, वासावासासु होइ ठायत्वं ।
मग्गसिरबहुलदसपी, ते लव दूक्षानि खोलम्भि ॥ ४१४९ ॥ निं.भा०, ३
- २ - आसाडपुणिणमाए, वासावासासु होति अरित्यमणं ।
मग्गसिरबहुलदसपी, ते जाव ए । म्भि खेतम्भि ॥ ४२८० ॥ ब०क०, ५
६४. १ - बाहिण्या वसभेहि, खेतं गाहेतु वासपाडगं ।
कप्पं कहेतु ठवणा, सावणबहुलस्स पंथाहे ॥ ३१५० ॥ निं.भा०, ३
- २ - बाहि तिना वसभेहि, खेतं गाहेतु वासपाडगं ।
कप्पं कबेतु ठवणा, सावणबहुलस्स पंथाहे ॥ ४२८१ ॥ ब०क०, ५
६५. १ - एत्य ठ अणभिगगहियं, दीसति राहं सवीसति मासं ।
तेण परमभिगगहियं, गिहिणातं कत्तिओ जाव ॥ ३१५१ ॥ निं.भा०, ३
- २ - एत्य य अणभिगगहियं, दीसतिरायं सवीसगं मासं ।
तेण परमभिगगहियं गिहिणायं, कत्तिओ जाव ॥ ४२८२ ॥ ब०क०, ५
- ३ - एत्य य अणभिगगहियं दीसहराहं सवीसर्वं मासं ।
तेण परमभिगगहियं गिहिनायं कत्तियं जाव ॥ ५-२ ॥ स्था०य०
६६. १ - असिवाइकारणेहि, अहव न वासे न सुंहु आरदं ।
अहिवहियम्भि दीसा, इयरेसु सवीसतीमासो ॥ ३१५२ ॥ निं.भा०, ३
- २ - असिवाइकारणेहि, अहवण वासे ण सुंहु आरदं ।
अभिवहियम्भि दीसा, इयरेसु सवीसती मासे ॥ ४२८३ ॥ ब०क०, ५

एत्य तु पणगं पणगं कारणियं जा सर्वीसतीकासो ।
सुबद्दसभीष्टियाण व आसाढीपुणिमोसरणं ॥६७॥

इय सरारी जाहणा असीति णडती दमुत्तरसचं च ।
जह वासति मिश्चासिरे दसराया लिणिण उक्कोसा ॥६८॥

काढण मासकप्यं तत्त्वेव ठिवाणऽतीए मागसीरे ।
सालम्बणाण छाप्पासितो तु जट्टेगगहो होति ॥६९॥

जह अस्थि पविहारो चउपदिवयम्य होइ गंतव्यं ।
आहवावि अणिंतस्सा आरोवणपुछनिष्ठा ॥७०॥

काईयमूरी संचारए य संसक दुल्लहे घिकखे ।
एएहिं कारणोहिं अपते होइ निगमणं ॥७१॥
राया सप्ये कुंचू अगणि गिलाणे य बंडिलस्सऽसति ।
एएहिं कारणोहिं अपते होइ निगमणं ॥७२॥

६७.१ - एत्थ उ पणगं पणगं, कारणिर्य जाव सवीसतीमासो ।

सुन्ददसमीठियाण च, आसाही पुणिणमोसवणा ॥ ३ १५३ ॥ निं.भा०, ३

२ - एत्थ उ पणगं पणगं, कारणिगं जा सवीसती मासो ।

सुन्ददसमीठियाण च, आसाही पुणिणमोसरण ॥ ४ २८४ ॥ व०.क०, ४

६८.१ - इय सत्तरी जहणा, असति नउती दसुत्तरसयं च ।

जति वासति मग्गसिरे, दसरायं तिन्नि उक्कोसा ॥ ३ १५४ ॥ निं.स०, ३

२ - इय सत्तरी जहणा, असिती णड़ू दसुत्तर सयं च ।

जति वासति मग्गसिरे, दसराया तिन्नि उक्कोसा ॥ ४ २८५ ॥ व०.क०, ४

३ - इअ सत्तरी जहणा असिह नउह बीसुत्तरसयव ।

जह वासे मग्गसिरे दसराया तिन्नि उक्कोसा ॥ ५ - २ ॥ स्था०.३०

६९.१ - काउण मासकर्पं, तत्येव ठियाणऽतीत मग्गसिरे ।

सालंबणाण छम्मासिओ उ जेहुगगहो भणितो ॥ ३ १५६ ॥ निं.भा०, ३

२ - काउण मासकर्पं तत्येव ठियाणऽतीत मग्गसिरे ।

सालंबणाण छम्मासिओ उ जेहुगगहो होइ ॥ ५ - २ ॥ स्था०.३० ५ - २

३ - काउण मासकर्पं तत्येव ठियाण तीस मग्गसिरे ।

सालंबणाण जिहुगगहो च छम्मासिओ होइ ॥ ७७५ ॥ ग्र०.सा०

७०.१ - जह अत्थ पदविहारो, चउपडिवयमि होइ णिगगमणं ।

आहवा वि अणिंतस्स, आरोवणा पुख्खनिहृषा ॥ ३ १५७ ॥ निं.भा०, ३

२ - अह अत्थ पदविहारो, चउपडिवयमि होति निगगमणं ।

आहवा वि अणिंताणं, आरोवणा पुख्खनिहृषा ॥ ४ २८७ ॥ व०.क०, ४

३ - अह अत्थ पदविहारो चउपडिवयमि होइ निगगमणं ।

आहवा वि अणिंतस्स आरोवण सुतनिहृष ॥ ७७६ ॥ ग्र०.सा०

७१. काइयभूमी संचारए च संसत्तं दुल्लभे भिक्षु ।

एएहिं कारणोहिं, अप्पते होति णिगगमणं ॥ ३ १५९ ॥ निं.भा०, ३

७२. राथा कुंचू सप्ये, अगणिगिलाषो य अंडिलस्सऽसती ।

एएहिं कारणोहिं, अप्पते होइ णिगगमणं ॥ ३ १५८ ॥ निं.भा०, ३

वासं व न आरेमाई पंचा वा दुगगमा सचिक्षाल्ला ।
 एषहि कारणोहि अङ्गकंते होइ निगमणं ॥७३॥
 असिवे ओमोवरिए राया बुझे भए व गेलणे ।
 एषहि कारणोहि अङ्गकंते होति निगमणं ॥७४॥

७३. वासं न उवरमती, पंथा वा दुर्गमा सविकिञ्चला ।

एएहि कारणोहिं अहक्कंते होइ णिगगमण ॥ ३१६० ॥

७४. १ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भये व गेलझे।

एएहि कारणोहिं, अहवा वि कुलं गणे संघे ॥ २००२ ॥ श०क०, २

२ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भए व गेलणे ।

एएहि कारणोहिं, अहवा वि कुलं गणे संघे ॥ ३१०४ ॥ निंभा०, ३

३ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भए व गेलणे ।

एएहि कारणोहिं, अहक्कंते होयऽनिगगमण ॥ ३१६१ ॥ निंभा०, ३

४ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भए व गेलणे ।

एएहि कारणोहिं, जयणाए कप्पती काऊ ॥ ३३५५ ॥ निंभा०, ३

५ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भए व आगाहे ।

गेलझ उत्तिमहु, नाणे तह दंसण चरिते ॥ ५१७२ ॥ श०क०, ५

६ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे व वादिदुड्हे वा ।

आगाहं अज्ञलिंगं, कालक्ष्मेवो व गमणं वा ॥ ६३७४ ॥ श०क०, ५

७ - असिवे ओमोयरिए रायभए खुहिअ उत्तमहु अ ।

पिहिअ गिलाणङ्गसए (यो अन्दसेस) देवया वेव आयरिए ॥ ७ ॥ ओ०नि०

८ - असिवे आयोदरिये, रायदुड्हे भये व आगाहे ।

गेलझ उत्तिमहु, नाणे तह दंसणचरिते ॥ ४०५७ ॥ पूर्वदीर्घ

९ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भए व आगाहे ।

गेलझ उत्तिमहु, नाणे तह दंसणचरितते ॥ १०१९ ॥ श०क०, २

१० - असिवे ओमोयरिए, सागार भए व राय गेलझे ।

जो जाम्य जावा जुज्जाह, पहिवक्ष्मेतं जाहा जोए ॥ १६६५ ॥ वही, २

११ - असिवे ओमोयरिए, रायदुड्हे भये व गेलझे ।

एएहि कारणोहिं, अहवा वि कुले गणे संघे ॥ २००२ ॥ वही, २

१२ - असिवे ओमोयरिये, रायदुड्हे भए व गेलझे ।

आकाहार्इएसु व, पंचसु ठाणेसु रीइज्जा ॥ २७३८ ॥ वही, ३

उभओवि अद्वजोवण सअद्वकोसं च तं हवति खेतं ।
 होह सकोसं जोवण, मोनूण क्लरणाङ्गाए ॥७५॥
 उद्गुप्ते तिरिवमि च, सकोसं सख्तो हवति खेतं ।
 हंदपयमाङ्गएसु छहिसि इयरेसु अड पंच ॥७६॥

तिणिण दुवे एकका वा दावाएण दिसा हवाह खेतं ।
 डज्जाणाओ घरेण छिणणामङ्गवं तु अखेतं ॥७७॥
 दगधहु तिजि सत्त व द्युवासासु ण हणाति तं खेतं ।
 चठरहुति हणाती आघबो कोवि उ घरेण ॥७८॥
 दद्युवासाऽऽहारेऽ विनाई संचारः मसाष्ठ लोए५ ।
 सच्चिते ६ अचिते ७ दोसिरणं गहण-वरणाङ्ग ॥७९॥

पुव्वाहारोसवण जोग विवहुय सत्तिवग्यहुणं ।
 संचाय असंचाए दद्यविवही पसत्ता ढ ॥८०॥

१३ - असिवे ओमोयरिए, रायदुहु भए व गेलजे ।

नाणाइतिगस्सड्हु बीसुंभण पेसणणं वा ॥ २७४१ ॥ वही, ३

१४ - असिवे ओमोयरिए, रायदुहु भए व गेलजे ।

असती दुस्लहपिंसेवतो व गहणं भवे पादो ॥

पिणणे वा ज़्जामिते वा, पिणीए साणतेणपदि ।

एषहिं कारणोहिं, णायब्बाऽसंततो असती ॥ १८५ ॥ वही, १

१५ - असिवे ओमोयरिए, रायदुहु भए व गेलजे ।

नाणाइतिगस्सड्हु बीसुंभण पेसेणोणं च ॥ ५ - २ ॥ स्था०व०

१६ - असिवे ओमोयरिए, रायदुहु भए व अगाडे ।

गेलजे उलिम्हु नाडे, तबंदसण चरिते ॥ १२ - १३२ ॥ वही

७५. उभओ वि अद्भजोयण, अद्भकोसं च तं हवति खेतं ।

होति सकोसं जोयण, मोत्तुणं कारणउआए ॥ ३१६२ ॥ निंमा०, ३

७६. १ - उहुमहे तिरियमिय व, सककोसं हवति सच्चतो खेतं ।

इदपदमादिएसु, छहिसि सेसेसु चउ पंच ॥ ३१६३ ॥ निंमा०, ३

२ - उहुमहे तिरियं पि व, सककोसं होइ सच्चतो खेतं ।

इदपदमाइएसु, छहिसि सेसेसु चउ पंच ॥ ४८४ ॥ श०क०, ५

७७. तिणिं तुवे ए । । वा, वायाएणं दिसा हवति खेते ।

ठज्जाणाऽपरेण, छिणणमङ्गं तु अक्षेत्रं ॥ ३१६४ ॥ निंमा०, ३

७८. दग्धहृतिणिं सत्त व, उद्युवासासु ण हणंति ते खेतं ।

चठरहृति हणंती, जंघन्हे । ॒ वि तु परेण ॥ ३१६५ ॥ वही, ३

७९. १ - दव्वहृवणाऽहारे, विगती संथार मत्तए लोए ।

सखिसे अचिते, बोसिरणं गहणउरणादी ॥ ३१६६ ॥ वही, ३

२ - दव्वहृवणाऽहारे विगई संकारमत्तए लोए ।

सखिसे बोसिरणं गहणउरणाइ ॥ ॥ स्था०व०

८०. पुव्वाहारोसवणं, जोगविवही व सत्तिओ गहणं ।

संचाइयमसंवहाए, दव्वविवही पसस्थाओ ॥ ३१६७ ॥ निंमा०, ३

विगतिं विगतीभीओ विगडगयं जो उ भुजए चिक्खू ।

विगड्ह विगथसमावं विगती विगतिं बला नेह ॥८१॥

पसत्य विगड्हगहणं गरहिथविगतिगहो य कज्जम्मि ।

गरहा लापपमाणे पछवय पावप्पहीयाओ ॥८२॥

कारणओउद्गुगहितेउच्छ्रुक्षणगोणहंतिअणणापरिसाहुरी ।

दाढं गुरुस्त तिणिण उ सेसा गेणहंति एककेककं ॥८३॥

उच्छ्रुत- गात्रवला- चेत्तावलए तिणिण तिणिह गेणहंति ।

संजय-आएसद्गु भुजेउजउबसेस उच्छ्रंति ॥८४॥

धुक्लोओ उ चिणाणं चिच्छं चेराण वासवासासु ।

असहु गिलाणस्स य, णातिक्कामेउज तं रचणि ॥८५॥

मोनु पुराण- भाविष्यसहु संविग्न सेस पक्षिसेहो ।

मा निहओ भविस्सहु घोरणमोए य उहुहो ॥८६॥

इरिएसण भासाणं यण वयसा काइए य दुख्खरिए ।

अहिगरणकसाचाणं संवच्छरिए विओसवर्ण ॥८७॥

कामं तु सच्चकालं पंखसु समितीसु होइ जाइच्छं ।

वासासु अहीगारो वाहुपाणा मेहणी जेण ॥८८॥

भासणे संघाइमदहो दुषणेओ नेहङ्गेओ तह्याए ।

इरिच्छवरियासु दोसुवि अयेहउपमउणो पाणा ॥८९॥

मणवयणकायगुत्तो दुच्छरियाइं तु खिप्पमालोए ।

अहिगरणम्मि दुरुच्छग यज्जोए चेव दमए य ॥९०॥

एगवडलला भंडी पासह तुच्छे य उज्ज्ञ खलहाणे ।

हरणे ह्यामणजाता, भाणगमललेण घोषणया ॥९१॥

८१. विगती विगती अीसो, विवतिगवं जो उ भुजए चिक्खू ।
विगति विगतिसहावा, विगती विगति बला नेह ॥ ३ १६८ ॥ वही, ३
८२. पसत्थविगतिमग्नुर्ण, सत्थ वि य असंज्ञय उ जा उसा ।
संबतिय पा गेणहंती गिलाणमादीय कज्जप्तु ॥ ३ १६९ ॥
- विगतीय ग्रहणमि वि, गरुत्विगतिमग्नु व कज्जम्य ॥
- गरहा लामपयाणे, पञ्चवपावप्पदीयातो ॥ ३ १७० ॥ वही, ३
८३. कारणे उमुगाहिते उज्जिङ्गण गेणहंति अणणपरिसाहिं ।
दावं गुरुस्स लिणिण ड, सेसा गेणहंति एककेकर्ण ॥ ३ १७१ ॥ वही, ३
८४. १ - उच्चारपासवण खेलमत्ताए लिणिण गेणहंति ।
संज्ञमआएसप्तु मिज्जेज्ज व सेस उज्जाहंति ॥ ३ १७२ ॥ वही, ३
- २ - उच्चारपासवण खेलमत्तगा व अत्थरण कुसपलालादी ।
संज्ञारवा बहुविदा, उज्जाहंति अणणण गेलझे ॥ ५५५ ॥ ब०क० १
८५. बुवलोओ य जिणाणं, णिष्वर्व थेरावा दासवासासु ।
असहू गिलाणास्स व, तं रथणिं तु णउतिककाये ॥ ३ १७३ ॥ निं.भा०, ३
८६. मोतुं पुराण-भावितसहै सज्जितसेसपडिसेहो ।
या होहिति णिष्वर्मो, भोयणमोए व उमुग्हो ॥ ३ १७४ ॥ वही, ३
८७. इरिएसण भासाणं मणववस्सा काव्यए व दुञ्जारिते ।
अहिकरणकसावाणं, संवञ्छरिए वि ओसवणं ॥ ३ १७५ ॥ वही, ३
८८. काव्यं तु सच्चकालं, पंचसु समितीसु होई जतियर्वं ।
वासासु अहीकारो, बहुपाणा मेदिणी जेण ॥ ३ १७६ ॥ वही, ३
८९. भासणे संपातिवहो, दुष्टोओ घोहझेतु ततिवाए ।
इरितचरिमासु दोसु व, अपेह अपमउजाणे पाणा ॥ ३ १७८ ॥ वही, ३
९०. पण-दवण-काव्यगुत्तो, दुञ्जारियाति व णिष्वर्वमालोए ।
अहिकरणे तु बुखवग, घज्जोए चेव दुम्हए व ॥ ३ १७९ ॥ वही, ३
९१. एगवतिस्लं भंडिं, पासह तुम्हे वि उज्जांतखलहाणे ।
हरणे जङ्गामण भाणग, घोसणात मत्तलजुन्देसु ॥ ३ १८० ॥ वही, ३

अप्पिणह तं बहुरूलं दुरुताग । तस्म कुभणारस्स ।
 मा भे डहीहि गायं अग्राणि वि सत्त बासाणि ॥१२॥
 चंपाकुमारनंदी पंचाल्लर थेरनवण दुपउवलए ।
 विह पासणाया सावग इंगिणि उववाय णंदिसरे ॥१३॥
 ओहुणि खाँड्य ३६६५० पभावउआय देवदत्ताते ।
 भरण्यवाए तायस, पायणं तह भीसणा समणा ॥१४॥
 गंधार गिरी देवय, पहिमा चुसिमा गिलाण पहियरेण ।
 पञ्जोयहरण दोकछर रण गहणा भेडज ओसवणा ॥१५॥
 दासो दासीवतितो छत्तिय जो घरे य दत्तव्यो ।
 आणे कोतेमाणो हंतव्यो बंधियव्यो य ॥१६॥
 खब्दाऽङ्गाणियगेहे पायस दहुण चेहरुवाह ।
 पियरो भासण खीरे जाइय लहे य तेणा ड ॥१७॥
 पायसहरणं छेत्ता पञ्चागव दमग असियए सीसं ।
 भाऊ सेणावति खिंसणा य सरणागतो जास्य ॥१८॥
 वाओदएण राई णासह कालेण सिराय पुढवीणं ।
 णासह उदगस्स सती, पव्यराती ड जा सेलो ॥१९॥
 उदय सरिझ्ञा पक्खेणऽवेति चउमगसिएण सिगयसमा ।
 वरिसेण पुढविराई आमरणगतीड पहिलोमा ॥२०॥
 सेलहु थंभ दारुय लया य वंसी य मिंदगोमुत्ते ।
 अवलेहणीया किमिराग कहम कुसुमव हलिहा ॥२१॥
 एमेव थंधकेयण, वत्येसु पस्तवणा गईओ य ।
 मरुयऽचंकारिय पंडरज्ज मंगू थ आहरणा ॥२२॥
 अवहंत गोण मरुए चढणह थप्पाण दक्करो उवरिं ।
 छोबुं मए सुष्ठुआऽतिकोवे णो देमो पच्छित्त ॥२३॥
 थंधिष्ठुयाऽचंकारिय भट्टा अपुसुयमगओ जाया ।
 वरग पहिसेह सचिवे, अणुयती ह पयाणे च ॥२४॥

१२. अप्यिणह तं बङ्गलं, दुरुद्वगा तस्स कुभकारस्स ।
मा भे द्वाहिति व्यणं, अण्णाणि वि सत्र द्वरिसाणि ॥ ३१८१ ॥ वही, ३
१३. अप्या अणंगसेणो, पंचऽच्छर थेर नवण दुष वलय ।
किंह पास णावण सावग, इंगिण उद्वदाय णंदिवरे ॥ ३१८२ ॥ वही, ३
१४. बोहण पडिमोहावण, पथाव उप्याय देवतत्त्वे ।
परणुद्वदाते सावस, नवणं तह भीसणा समणा ॥ ३१८३ ॥ वही, ३
१५. गंधारमिरी देवव, पडिमागुलिया गिलाणपडियरण ।
घजोयाहरण पुक्खर, रणगहणो णामओ सवणा ॥ ३१८४ ॥ वही, ३
१६. दासी दासीवतिओ, छेत्तूँ जो घरे च वस्त्वो ।
आणं कोवेमाणो, हंत्वो जांधेयत्वो य ॥ ३१८५ ॥ निं भा०, ३
१७. खद्वादाणि य गोहे, पायस दम्बेडुरुवगा वडुं ।
पितरोभासण खीरे, जाह्य रद्दे य तेणातो ॥ ३१८६ ॥ वही, ३
१८. पायसहरणो छेता, पञ्चान्त्र असियएण सीसं तु ।
भाड्यसेणाहिवर्खिं, सणाहिं सरणागतो जत्व ॥ ३१८७ ॥ वही, ३
१९. वाओदएहि राई, णासङ्क कालेण सिगयपुढवीण ।
णासङ्क उदगस्स सतिं, पञ्चयराती उ जा सेलो ॥ ३१८८ ॥ वही, ३
२००. उदगसरिक्का पक्खेणऽवेति चतुमासिएण सिगयसमा ।
वरिसेण पुढविराती, आवरण गती य पडिलोमा ॥ ३१८९ ॥ वही, ३
२०१. सेल-ऽत्ति-अभद्रारुवलया य चंसे य मेंड गोमुत्ती ।
आवलेहणि किमि कह्य कुसुभरागे हलिद्वा य ॥ ३१९१ ॥ वही, ३
२०२. एयेव अंमकेयण, वात्येसु परुवणा गतीओ य ।
परुय अंकंकारि य पंकुरज्जमंगु य आहरणा ॥ ३१९० ॥ वही, ३
२०३. अवहंत गोण मरुते, चउण्हे वप्पाण दक्करो उकरिं ।
क्षूदो मओ दवग्गा, अतिकोवे ण देमो पञ्चितं ॥ ३१९२ ॥ वही, ३
२०४. अणाव्यमञ्चकारिय-भट्ठा अहुसु य मगगतो जाचा ।
जरणपडिसेवे सचिवे, अणुष्ठी हिं पद्माणं च ॥ ३१९४ ॥ वही, ३

णिवर्खिंत विगालपडिल्लणा य दारं न देमि निवकहणा ।
 स्थिसा णिसि निगमणं ओरा सेणावई गहणं ॥१०५॥
 नेष्ठुइ जलूगवेउआगगहण तम्म य अणिल्लमाणम्मि ।
 गाहावई जलूगा वणभाडग कहण मोवणावा ॥१०६॥
 सवगुणसहस्र पारं, वणभेसज्जं वतीसु जावणता ।
 तिक्खुन दासीभिंदण ण य कोव सथं पदार्ण च ॥१०७॥
 पासतिथ पंडरज्जा परिणा गुरुमूल णाव अधिओगा ।
 पुच्छति य पडिक्कमणे, पुच्छल्लमासा चउल्लम्मि ॥१०८॥
 अपडिक्कम सोहम्मे अधिओगा देवि सङ्ककतोसरणं ।
 हत्थिणि वाष्णिसरणे गोतमपुच्छा य वागरणं ॥१०९॥
 महुरा घंगु आगव बहुसुव वेरगा सहूपूवाव ।
 साताविलोभ णितिए, भरणे जीहा य णिदमणे ॥११०॥
 अक्षुयवगत गतद्वेरे, णाड गिहिणो वि प्रा हु अहिगरणं ।
 कुञ्जा हु कसाए चा अविनाहितफलं च सिं सोडं ॥१११॥
 पच्छिसे बहुपाणो कासो बलितो चिरं तु ठायवं ।
 सज्जाव भंजमतवे धिणियं अप्पा णिओतव्वो ॥११२॥
 पुरिमध्यरिमाण कप्पो मंगल्लं वद्धमाणतिल्लवंगि ।
 इह परिकहिया जिण-गणहराहवेरावलि चरितं ॥११३॥
 सुते जहा निवद्वं वग्धारिय भत्त-पाण अगगहणे ।
 णाणद्वी तवस्सी अणहियाहि वग्धारिए गहणं ॥११४॥
 संजमखेतचुवाणं णाणट्टि-तवस्सि-अणहियासाणं ।
 आसज्जा विक्खकालं, दहरकरणेण जतिव्वं ॥११५॥
 उणियवासाकप्पो लाठयपावं च लब्धमए जत्य ।
 सज्जाएसणसोही वरिसति काले य तं खितं ॥११६॥
 पुच्छाहीयं नासइ, नवं च छातो अपच्छलो घेनुं ।
 खमगस्स च पारणए वरिसति असहु व आलाई ॥११७॥

१०५. णिवचिंत विकालपडिच्छणा च दाणं ण देमि णिवकहणं ।
खिंसा णिसि णिगगमणं, चोरा सेणावती गहणं ॥३१९५॥ नि० भा०, ३
१०६. नेच्छति जलूग देज्जो, गहणं तं पि य अणिच्छमाणी तु ।
गेणहादे जलूगवणा, भाउद्यद्वै कहण मोए ॥३१९६॥ वही, ३
१०७. सच्चयुणसहस्रपाणं, वणभेसज्जं जतिस्स आवणथा ।
तिक्ष्वृत्त दासिभिंदण, ण च कोहो सयं च दाणं च ॥३१९७॥ वही, ३
१०८. पासतिथ पंडरज्जा, परिण-गुरुमूल-णातअभिओगा ।
पुच्छा तिपडिककमणे, पुच्छामासा चउत्थं पि ॥३१९८॥ वही, ३
१०९. अपडिककम सोहम्मे, अभिडगा देवसक्कओसरणे ।
हस्तिणि वाउस्सगे, गोबम-पुच्छा तु वागरणा ॥३१९९॥ वही, ३
११०. मधुरा यंगू आगम बहुसुय वेरण्ग सहूपूय च ।
सातादि-लोभ-णितिए, भरणे जीहाइ णिहमणे ॥३२००॥ वही, ३
१११. अम्बुवगयगयवेरा, णातु णिहिणो वि पा हु अहिगरणं ।
कुजआहि कसाए वा, अविगडियफलं व सिं सोवं ॥३२०१॥ वही, ३
११२. घच्छित्तं बहुपाणा, कालो वलिओ चिरं च ठायक्कं ।
सज्जाय-संज्ञम-तवे, घणियं अप्पा णिखोतव्वो ॥३२०२॥ वही, ३
११३. पुरिमधरिमाण कप्पो, तु यंगलं वद्माणतिस्थम्मि ।
तो परिकहिया जिणागण-हरा च वेरवलिचरित्तं ॥३२०३॥ वही, ३
११४. सुते जाहा णिबंधो, वग्यारियभत्तपाणमगराहणं ।
णाणद्वि तदस्सी यऽणहियासि वग्यारिए गहणं ॥३२०४॥ वही, ३
११५. झाझमखेत्तच्छाणं, णाणद्वि-तवस्स-अणहियासाणं ।
झाझपण भिक्षकाल, उत्तरकरणोण जडयक्कं ॥३२०५॥ वही, ३
११६. झालियवासाकप्पा, लाउयपातं च लक्ष्मती जत्थ ।
झज्जा एसणसोही, वरिसङ्काले य तं खोर्त ॥३२०६॥ वही, ३
११७. मुक्काहीयं नासति, नवं च छतो ण अपञ्जलो घेतुं ।
मुखगस्स य पारणए, वरसति असहूय वालादी ॥३२०७॥ नि० भा०, ३

बाले सुते सुई कुडसीसग छत्ताे अपच्छिमए ।
णाणांटी तवस्सी अणाहिचासि आह उत्तरविसेसो ॥ ११८ ॥ द०नि०



११८. बाले सुते सूती, कुडसीसगछत्ताे य पच्छिमए ।
णाणांटी तवस्सी अणाहिचासि आह उत्तर विसेसा ॥ ३२०८ ॥ नि०भा०, ३



चतुर्थ अध्याय

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में छङ्गित दृष्टान्त

जैनपरम्परा में प्राचीन काल से ही जन-जन के अनन्तर्मनिस में धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सिद्धान्तों को प्रसारित करने की दृष्टि से प्रसिद्ध कथाओं, विशेषतः धर्मकथाओं का आश्रय लिया गया है। जैन धर्मकथा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसमें सत्य, अहिंसा, परोपकार, दान, शील आदि सदगुणों की प्रेरणायें सत्रिहित होना है। धर्मकथा के विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने भी कहा है—“धर्म को प्रहण करना ही जिसका विषय है, क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मनवर्य की जिसमें प्रधानता है, अणुब्रत, दिग्ब्रत, देशब्रत, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोष्ठोपवास, उपभोग-परिभोग तथा अतिथिसंविभाग से जो सम्बन्ध है, अनुकम्पा, अकामनिर्जरादि पदार्थों से जो सम्बद्ध है, वह धर्मकथा कही जाती है।”^१

प्राकृत गाथा-निबद्ध निर्युक्तियों में सङ्केतित दृष्टान्त कथायें भी धर्मकथायें हैं। अधिकरण अर्थात् पाप के दुष्परिणाम, क्षमा का माहात्म्य और चारों कषायों-क्रोध, मान, माया और लोभ के दुष्परिणामों को बताने वाली कथाओं का सङ्केत कर अधिकरण, कषायादि से विरत रहने एवं क्षमा आदि धर्मों का पालन करने की प्रेरणा दी गई है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति^२ में अधिकरण अर्थात् कलह, पाप, दुष्प्रवृत्ति आदि सम्बन्धी द्विरुक्तक, चम्पाकुभारनन्दी और चेट द्रमक के दृष्टान्तों में असंयमी या गृहस्थ जनों में परस्पर कलह और शत्रुता के कारण वध, खलिहान जलाने तथा युद्ध में बन्दी बनाने जैसे प्रतिशोधात्मक कृत्य किये जाते हैं। फिर भी जब एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष से क्षमायाचना की जाती है तो दूसरा पक्ष उसके शत्रुतापूर्ण कृत्यों और अक्षम्य अपराध को अनदेखा कर क्षमा प्रदान कर देता है।

इन दृष्टान्तों द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जब असंयमी लोग भयहर अपराधों के लिए क्षमायाचना और क्षमादान कर सकते हैं तब संयमी साधु तो अवश्य ही अपने प्रति किये गये अपराधों को क्षमा कर सकते हैं और स्वकृत अपराधों के लिए दूसरों से क्षमा माँग सकते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त कषाय के दुष्परिणाम को बताने वाले चार दृष्टान्त-सङ्केत प्राप्त होते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय से सम्बन्धित हल जोतने

वाले महत, अनन्तानुकन्थी मानविषयक प्रेष्ठिपुत्री अत्यहङ्कारिणी भट्टा, अत्यधिक माया कषाय से युक्त श्रमणी पाण्डुराया तथा लोभी श्रमण आर्यमङ्गु के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। इस निर्युक्ति में सङ्केतित दृष्टान्तों को इसप्रकार सूचीबद्ध कर सकते हैं :—

१. अधिकरण अर्थात् कलह सम्बन्धी दृष्टान्त

- I. द्विरक्तक दृष्टान्त
- II. चम्पाकुमारनन्दी दृष्टान्त
- III. शृत्य द्रमक दृष्टान्त

२. कषाय से सम्बन्धित दृष्टान्त

- I. क्रोधकषायविषयक भरत दृष्टान्त,
- II. मानकषाय विषयक अत्यहङ्कारिणी भट्टा दृष्टान्त,
- III. मायाकषाय विषयक पाण्डुराया दृष्टान्त,
- IV. लोभकषाय विषयक आर्यमङ्गु दृष्टान्त।

निर्युक्ति साहित्य में कथाओं को, उनके प्रमुख पात्रों के नाम-निर्देश के साथ एक, दो या कभी-कभी तीन गाथाओं में कथा के मुख्य विन्दुओं के कथन द्वारा, इक्षित किया गया है। कथा का पूर्ण स्वरूप परवर्ती साहित्य से ही ज्ञात हो पाता है, वह भी मुख्यतः चूर्णि साहित्य से। निशीथभाष्यचूर्णि^१ और दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि^२ में उपर्युक्त कथायें दिये गये क्रम से उपलब्ध हैं। निःशास्त्रचूर्णि में ये कथायें विस्तृत रूप में वर्णित हैं जबकि दशाश्रुत में संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं। इन दोनों चूर्णियों के अतिरिक्त यथाप्रसङ्ग बृहस्पतलभाष्य^३ और आवश्यकचूर्णि^४ में भी ये कथायें प्राप्त होती हैं। इन चूर्णियों में प्राप्त विवरणों के आधार पर ही इन कथाओं का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है—

३. अधिकरण सम्बन्धी द्विरक्तक दृष्टान्त

एगवड्ला भंडी घासह तुम्हे डज्ज खलहाणे ।
इरणे झामणाज्जता, भाणगमल्लेण घोसणाथा ॥११॥
अप्पिणाह तं बड्ल्लं दुरुतगा! तस्म कुंभयारस्म ।
मा भे डहीहि गामं आगाणि वि सत वासाणि ॥१२॥

— दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति गाथा*

एकन्को कुंभकारो भंडिं कोलालभंडस्म भरेकण दुरुतर्य नाय पच्चंतगामं गतो।
तेहिं दुरुतड्डेहिं गोहेहिं तस्म एगं बड्ल्लं हरिउकायेहिं दुच्छति पेच्छह इमं अच्छेरं,

भंडी एगेण बइल्लेण बच्छति, तेण भणितं पेच्छह इमस्स गामस्स खलाहाणाणि डज्जांतिति। तेहिं तस्स सो बइल्लो हरितो, तेण आङ्गता देह बइल्लं ते भणिंति। तुमं एककेए चेव बइल्लेण आगतो। जाहे ण दिंति ताहे तेण पतिवरिसं खलीकतं घण्ठां, सखावासाणि झामियं, ताहे दुरुत्पयगामेल्लएहिं एगंभि महामहे आणओ भणितो-ठगधोसेहिं, जस्स अवरदं तं भरिसावेमो, मा णो सकुले ढच्छादेसु, आणएण उग्घोसितं, ततो कुम्भकारो भणति-अथिएणाय तं बइल्लं गाथा पच्छा तेहिं विदिष्ठो खामितो। जाति लाव तेहिं असंजतेहिं अण्णाणीहिं होतएहिं खामिता एक्षिया अवराहा, तेणवि य खमियं, किमंग पुण संजतेहिं नाणीहिं होतएहिं जं कतं तं सख्यं पज्जोसवणाए उपसामेतव्यं।

— ३० चू० ।

‘तत्य “दुरुवग” ति उदाहरण-आयरियजणवयस्स अंतगामे एकको कुंभारो। सो कुडगाणं भंडे भरिऊण पच्चतगा दुरुत्तगं णामयं गन्ने। तेहिं य दुरुत्तगाल्लोहिं गोहेहिं एं बइल्लं हरितकामेहिं भण्णति—

“भो भो पेच्छह इमं अच्छेर, एगेण बइल्लेण भंडी गच्छति”। तेण वि कुंभकारेण भणियं—“पेच्छह भो इमस्स गामस्स खलाहाणाणि डज्जांति।” अतिगया भंडी गाममज्जे ठिता। तस्स तेहिं दुरुवगव्येहिं छिह्नं लभिऊण एगो बइल्लो हडो। विक्कयं गया कुलाला, ते य गामिल्लया जातित-देह बइल्लं। ते भणति-तुमं एककेण चेव बइल्लेण आगयो। ते पुणो जातिता। जाहे ण देति ताहे सरयकाले सख्यधण्णाणि खलाधाणेसु कतानि, ताहे अग्नी दिण्णो। एवं तेण सत वरिसाणि झामिता खलाधाणा। ताहे अट्टुमे वरिसे दुरुवगगामेल्लएहिं मल्लजुद्धमहे वट्टमाणो भणगो भणितो-घोसिहिं भो जस्स अम्हेहिं अवरदं तं खामेमो, जं च गहियं तं देमो, मा अम्ह सस्से दहउ। ततो आणएण उग्घोसियं। । ३१८० ॥

ततो कुंभकारेण आणगो भणितो भो इमं घोसेहि—.....

आणगेण उग्घोसियं तं। तेहिं दुरुवगव्येहिं सो कुम्भकारो खामितो। दिण्णो, य से बइल्लो। इमो य से उक्सांहारो—

जाति ता तेहिं असंजतेहिं अण्णाणीहिं होतेहिं खामियं तेण वि खमियं, किमंग पुण संजएहिं नाणीहिं य। जं कयं तं सख्यं पज्जोसवणाए खमेयब्यं च, एवं करतेहिं संजमाराहणा कता भवति। । ३१८१ ॥

— ३१८० चू० ।

कथा सारांश

एक कुम्हार मिट्टी के बर्तनों से भरी बैलगाढ़ी लेकर द्विरक्तक (द्वि-अर्थी भाषा बोलने वाले) नाम के समीपवर्ती गाँव में पहुँचा। कुम्हार का एक बैल चुराने के अभिप्राय

से द्विरुक्तकों ने कहा— हे! हे! लोगों आश्चर्य देखो! एक बैल बाली गाड़ी है। इस पर कुम्हार बोला— हे लोगों! देखो! इस गाँव का खलिहान जल रहा है और उसने गाड़ी गाँव के बीच ले जाकर खड़ी कर दी। मौका देखकर गाँव बालों ने उसका एक बैल चुरा लिया। बर्तन बिक जाने के बाद आने पर उसने गाँव बालों से बैल वापस देने की बार-बार प्रार्थना की। गाँव बालों ने कहा—... तुम एक ही गेल के रास्ते आये हो। बैल वापस न मिलने से क्रुद्ध कुम्हार शरदकाल में गाँव बालों के घान्य से भरे खलिहान को लगातार सात वर्ष तक आग लगाता रहा। औंठवें वर्ष गाँव बाले इकट्ठे होकर घोषणा करताये कि जिसके प्रति भी हमने अपराध किया है, वह हमें क्षमा करे, परिवार सहित हमारा नाश न करे। तब कुम्हार बोला— बैल मुझे वापस दो। बैल मिल जाने पर उसने गाँव बालों को क्षमा कर दिया।

यदि उन असंयत अशानी लोगों द्वारा स्वकृत अपराध हेतु क्षमा माँगी गयी और उस असंयमी कुम्हार ने क्षमा भी कर दिया, तो पुनः संयत ज्ञानियों द्वारा भी अपने प्रति किये गये अपराध के लिए पर्युषण पर्व में अवश्य क्षमा कर देनी चाहिए। ऐसा करने से संयम आराधना होती है।

२. चम्पाकुमार नन्दी या अनंगसेन दृष्टान्त

चंपाकुमारनन्दी पंचञ्चक्र थेरनयण दुमञ्चलए ।
 विह पासणाया सावग इंगिणि उववाय णंदिसरे ॥९३॥
 बोहण पहिमा उदयण पभावउप्याय देवदत्ताते ।
 मरणुथवाए तायस, यां तह भीसणा समणा ॥९४॥
 गंधार गिरी देवय, पहिमा गुलिया गिलाण पहियरेण ।
 पञ्जोयहरण दोक्खार रण गहणा मेझज्ज ओसवणा ॥९५॥
 दासो दासीयतितो छत्तिय जो घरे य बत्तख्यो ।
 आण कोवेमाणो हंतखो जंघियख्यो य ॥९६॥

— द०नि० ।*

अहवादिहुंतो उद्यायणो राया तारिसे अवराहे पञ्जोतो सावतेति- तारिसे अवराये पञ्जोओ सावगोति काकण मोक्षण खगितो। एवं पञ्जोसवणाए परलोगभीतेण सव्यस्य सामेयव्यं ।।

—द०द० ।

इहेव जंबुदीवे अहुभरहे 'चंपा' णाम णगरी, "अणंगसेणो" णाम सुवण्णगारो। सो य अतीव थीलोलो। सो य जे रूबर्वई कणण पासति तं बहुं दविणजायं दाढं परिणेह। एवं किल तेण पंच इत्थिसया परिणीया। सो ताहिं सद्धिं माणुस्सए भोगे भुजमाणो

विहरह। इतो य 'पंचसेल' णाम दीवं। तत्य 'विज्जुमाली' णाम जकखो परिवसइ। सो य चुतो। तस्स दो अगमहिसीतो— 'हासा एडाज' रु तारदे गोपलिङ्गीतो चिंतेति-किंचिं उवप्पलोभेमो। ताहिं य दिढ्ठो 'अणंगसेणो'। सुंदरे रूपे वित्तिक्षुण तस्स 'असोगवणियाए' णिलीण। ताओ दिढ्ठातो अणंगसेणेण। ततो य तस्स मणकखेवकरे विभ्यमे दरिसेति। अकिखतो सो ताहिं, हत्यं पसरेउमारद्धो।

ताहे भणितो— "जति ते अम्हेहि कज्जं तो पंचसेलदीवं एज्जह" ति भणिता-ताओ अदंसणं गता।

इयरो विविहप्पलाबीभूओ असत्यो रण्णो पण्णगारं दाक्षण उग्घोसणपडहं पीणावेति इमं उग्घोसिज्जति— "जो अणंगसेणयं पंचसेलं दीवं पावेति तस्स सो दक्षिणस्स कोडिं पथच्छति" एवं बुस्समाणे णावियथेरेण भणिय— 'अहं पावेमि' ति, छिक्को पडहो। तस्स दिण्णा कोडी।

ते दुवे गहियसंबला दूरुढा णावं। जाहे दूरं गया ताहे णाविएण पुच्छितो— किंचि अगतो जलोवरि पासंसि?

तेण भणियं "ण व" ति।

जाहे पुणो दूरं गतो ताहे पुणो पुच्छति, एतेण भणिय—किंचि माणुससिरप्पमाणं घणंजण-वण्णं दीसति।

णाविएण भणियं— एस पंचसेलदीवणगस्स धाराए ठितो वडरुक्खो।

एसा णावा एतस्स अहेण जाहिति, एयस्स परथगे जलाकतो।

तुमं किंचि संबलं घेतुं दक्खो होउ वडसाल विलगेज्जसि

अहं पुण सह णावाए जलावते गच्छीहामि।

तुमं पुण जाहे जलं वेलाए उअतं भवति ताहे णगधाराए णां आरुभिता परतो पञ्चोरुभिता पंचसेलयं दीवं जत्यं ते अभिष्येयं तत्यं गच्छेज्जसु।

अण्णे भण्णति

(तुमं एत्यं वडरुक्खे आरुढो ताव अच्छसु, जाव उ संज्ञावेलाए महंता पविष्टणो आगमिष्यति पंचसेलदीवातो। ते रातो वसिता पथाए पंचसेलगदीवं यमिस्संति। तेसिं चलणविलगो गच्छेज्जसु।)

जाव य सो थेरो एवं कहेति ताव संपत्ता वडरुक्खं णावा।

'अणंगसेणो' वडरुक्खमारुढो।

णावियथेरो सह णावाए जलावते गतो।

ऐतेसिं दोणह पगाराणं अन्नतरेण तातो दिङ्गातो। ताहि संभट्टो, भणिओ य ण
एरसिणे असुइणा देहेण अम्हे परिभुज्जामो।

किंचि बाल-तवचरणं काढं णियाणेण य इहे उववज्जसु, ताहे सह अम्हेहिं भोगे
मुंजहसि।

पाहें य से सुस्सादुमर्ती फलपुफ्फकर्ले य दत्ते उदग ध। सीयलच्छायाए पासुत्तो।
ताहें य देवताहिं पासुत्तो चेव करवलपुढे छुमिता चंपाए सभवणे किखत्तो, विवुळो
य पासति—सभवणं सयणपरिजणं च। आढत्तो पलविठं “हासे पहासे”।

लोगेण पुच्छिज्जंतो भणति-दिङ्ग सुयमणुभूयं जं वत्तं पंचसेलए दीवे।

तस्स य वयंसे णाइलो णाम सावओ, सो से जिणपण्णतं धर्मं कहेति- “एयं
करोहि। ततो सोधम्माइसु कप्पेसु दीहकालठितीओ सह वेमाणिणीहि उत्तमे भोगे
मुंजहिसि, किमेतेहि वधूतेहि वाणमंतरीएहि अप्यकालटुतीएहि”।

सो तं असदहंतो सयणपरियणं च अगणातो णियाणं काढ इंगिणिप्रणं
पडिवज्जति। कालगओ उववण्णो पंचसेलए दीवे ‘विज्ञुमाली णाम जक्खो’,
हासपहासाहिं सह भोगे भुजमाणो विहरति।

सो वि णाइल्ये सावगो-सामण्णं काढं आलोइअ-पडिक्कंतो कालं काढं अच्युते
कप्पे सामाणितो जातो। सो वि तत्ये विहरति।

अण्णया पांदीसरवरदीवे अट्टाहिमहिमणिमित्तं सर्थं इंदाणित्तेहि अप्पणुप्पणो
णितोगेहिं णितत्ता देवसंघा मिलंति।

‘विज्ञुमालि’ जक्खस्स य आठज्जणियोगो। पढहमणिच्छंतो बला आणीतो
देवसंघस्स य दूरत्यो आयोज्जं वायंतो, णाइलदेवेण दिङ्गो। पुच्छाणुरागेण तप्पडिबोहणत्यं
च णाइल देवो तस्स समीवं गतो। तस्स य तेवं असहमाणो पडहमंतरे देति।

णाइलदेवेण पुच्छितो— मं जाणसि ति।

विज्ञुमालिणा भणियं — को तुम्हे सवकाइए इदे ण याणइ?

देवेण भणियं — परभवं पुच्छमि, णो देवतं।

विज्ञुमालिणा भणियं — “ण जाणमि”।

ततो देवेण भणियं — “अहं ते परभवे चंपाए णगरीए वयंसओ आसी णाइलो
णाम। तुमे तथा भम वयणं ण कवं तेण अप्पिङ्गुएसु उववण्णो, तं एवं गए वि जिणप्पणीय
धर्मं पडिवज्जसु। धर्मो से कहितो, पडिवण्णो य।

ताहे सो विज्ञुमाली भणति — इदाणिं किं मया कायच्चं?

अच्छुयदेवेण भणियं — बोलिणिमितं जिण-पडिमा अष्टतारणं करोहि। ततो विज्ञुमाली अट्टाहियमहिवन्ते गंतुं चुल्लिहिमवंतं गोसीसदारुमर्यं पडिमं देवयाणुभावेण णिव्वतेति, रथण विचित्ताभरणेहिं सव्वालंकारविभूसियं करोति, अण्णस्स च गोसीसचंदणदारुस्स भज्ज्वे पक्षिखवति, चिंतेति य “कत्यमं णिवेसेमि”।

इतो य समुद्दे वणियस्स पवहणं दुच्चा पुणो गहिर्य ढोल्लति, तस्स य डोलायमाणस्स छम्मासा वट्टति। सो य वणिओ भीतोविग्गो धूवकडच्छुयहत्यो इडुदेवया-णमोक्कारपरो अच्छति। विज्ञुमालिणा भणियं— “भो भो मणुया अज्जं पमाए इमं ते जाणपतं वीतीभए णमरे कूलं पाविहिति। इमं च गोसीसचंदणदारं, पुरजणवयं उदायणं च रायणं मेलेडं भणेज्जासि-एत्य देवाहिदेवस्स पडिमं करेज्जह” एसा देवाणवत्ती।

तओ देवाणुभावेण, नावा पता वीईभयं।

तओ वणिओ अग्धं घेतुं गओ रायसमीवं, भणियं च तेण “इत्य गोसीसचंदणे देवाधिदेवस्स पडिमा कायच्चा।” सच्च जहावत्तं वणिएण रण्णो कहियं, गओ वणिओ।

रण्णा वि पुरचतुवेज्जे (वण्णो) मेलेडं अक्षिखयं अक्षिखाणयं। सहिआ वणकुट्टमा “इत्य पडिमं करोहि” ति।

कते अधिवासणे बंभणेहिं भणियं - देवाहिदेवो बंभणो तस्स पडिमा कीरड, वाहितो कुठारो ण वहति।

अण्णेहिं भणियं - विण्हु देवाधिदेवो। तहावि तं ण वहति।

एवं खंद रुद्धाइया देवयगणा भाणेत्ता सत्थाणि वाहिताणि ण वहति। एवं संकिलिसांति। इतो य पमावतीए आहारो रण्णो उवसाहितो।

जाहे राया तत्थउवक्षित्तो ण गच्छती ताहे पमावतीए दासचेडी विसज्जिता - गच्छ रायाणं भणाहि - वेलाइककमो वट्टेति, सच्चमुवसाहियं किण्ण भुंजह ति?

गया दासचेडी, सच्चं कहियं।

ततो रतिणा भणियं - सुहियासि, अम्हं इमेरिसो कालो वट्टति। पडिगया दासचेडी। ताए दासचेडीए सच्चं पमावतीए कहियं। ताहे पमावती भणति - “अहो मिच्छद्दंसणामोहिता देवाधिदेवं पि ण मुण्णति”।

ताहे पमावती एहाया कयकोउयमंगला सुविकल्त-वास-परिहाण-परिह्या बलि-पुण्फ-धूव-कडच्छुय-हत्या गता।

ततो पमावतीए सच्चं बलिमादिकारं भणियं - “देवाधिदेवो महावीरवद्माणसामी, तस्स पडिमा कीरड” ति पहराहि। वाहितो कुहाडो, एगधाए चेव दुला जात, पेच्छांति

य पुव्वणिव्वत्तिं सव्वालंकारभूसिं भगवतो पडिमं, सा णेड रणा धरसमीवे देवाययणं काठं तत्य विद्या।

तत्य किणहगुलिया णाम दासचेडी तेवयमुस्यमङ्गारिणी पिलता। अहमि-चाउद्दसीसु पथावती देवी भत्तिरागेण सव्वमेव णटोवहारं करति।

राया वि तयाणुवत्तीए मुरए पवाएति।

अण्णया पथावतीए णटोवहारं करेतीए रणा सिरच्छाया ण दिट्ठा। “उप्पाड” ति काठं अमंगुल-चितस्स रणो णटुसममुखवक्खोडा (ण) फडंति ति रुट्टा महादेवी “अवज्ज” ति काठं।

ततो रणा लवियं - “णो मे अवज्जा, मा रुससु, इयेरिसो उप्पाओ दिट्ठो, ततो चिताकुलताए मुखवक्खोडयाणचुक्को” ति।

ततो पथावतीए लवियं - जिणसासणं पव्वणेहि मरणस्स ण भेयब्बं।

अण्णया पुणो वि पथावतीए पहायकयकोउयाते दासचेडी वाहित्ता “देवगिहपवेसा सुद्धवासा आणेहि” ति भणिया।

ते य सुद्धवासा आणिज्जमाणा कुसुंभरागरता इव अंतरे संजाता उप्पायदोसेण। पथावतीए अद्दाए मुहं णिरवक्खंतीए ते वत्था पणामिता।

ततो रुट्टा पथावती “देवयायणं फविसंतीए कि मे अमंगलं करेसि ति, किमहं वासधरपवेसिणि” ति, अद्दाएण दासचेडी संखावते आहया। मता दासचेडी खणेण। वत्था वि साभाविता जाता।

पथावति चिंतेति - “अहो मे णिरवराहा वि दासचेडी वावातिया, चिराणुपालियं च मे थूलगपाणाइवायवयं भगं, एसो वि मे उप्पाड” ति।

ततो रायार्ण विष्णवेति - “तुञ्चेहि अणुण्णाया पव्वज्जं अञ्चमुवोमि। मा अपरिचितकामभोगा मरामि” ति।

रणा भाणियं - “जति मे सद्गमे बोहेहिसि” ति।

तीए अञ्चुवगया णिरवक्खंता, छम्मासं संजममणुपालेता आलोइयपडिक्कंता मता उववशा वेमाणिईसुं।

ततो पासिता पुव्वं भवे पुव्वाणुरामेण संसारविमोक्खणत्यं च वहूहिं वेसंतरेहि रणो जडणं घम्मं कहेति।

राया वि तावसमतो तं णो पडिवज्जेति।

ताहे पथावतीदेवेण तावसवेसो कतो, पुण्फफलोटयहत्यो रणो समीवगं गतो। अतीव एं रमणीयं फलं रणो समणियं। रणा आधायं सुरभिर्गंधं ति, आलोइयं

चक्रखुणा सुरुवं ति, आसातियं अम (य) रसोवमं ति।

रण्णा य पुच्छितो तावसो - कत्थं एरिसा फला संभवंति?

इतो णाइदूरासण्णे तावसासमे एरिसा फला भवंति।

रण्णा लवियं - दंसेहि मे तं तावसासमं, ते य रुक्खा।

तावसेण भणियं - एहि, दुयग्गा वि त वयामो। दो वि पयाता।

राया य मउडातिएण सब्बालंकारविभूसितो गतो पेच्छति य मेहणिगुरुं बभूतं वणसंडं।

तत्थं पविष्टो दिष्टो तावसासमो, तावसाऽऽसमे य पेच्छति स दरे पते गंधं दिव्यं।

दिष्टुते य मतेमाणे णिसुणेइ एस राया एगागी आगतो सब्बालंकारो मारेउं गेण्हामो से आभरणं।

राया भीतो पच्छओसविकतुमारद्दो।

तावसेण य कूवियं - धाह धाह एस पलातो गेण्ह।

ताहे सब्बे तावसा भिसियगणे तियंतियकमंडलुहत्या धाविता, हण हण गेण्ह गेण्ह मारह ति भणंता - रण्णो अणुमगतो लगगा।

राया भीतो पलायंतो पेच्छइ - एगं महतं वणसंडं। सुणेति तत्थं माणुसालावं। एत्यं रणं ति मण्णमाणो तं वणसंडं पविसति। पेच्छइ य तत्थं चंदमिव सोमं, कामदेवमिव रुक्खं, रागकुभारमिव सुणेबत्थं, बहस्सति व सब्बसत्थविसारयं, बहूणं समणाणं सावगाणं साविगाणं य स्सरणे सरेणं धम्ममक्खायमाणं समणं।

तत्थं राया गतो सरणं सरणं भणंतो।

समणेण य लविय - “ते ण भेतव्वं” ति।

“छुट्टोसि” ति भणिता तावसा पडिगता।

राया वि तेसि किष्परिणतो इसि आसत्थो। धम्मो य से कहितो, पडिवण्णो य धम्मं।

पभावतिदेवेण वि सब्बं पडिसधरियं।

राया अप्पाणं पेच्छति सिंघासणत्थो चेव चिद्वामि, ण कहिं वि गतो आगतो वा, चिंतेति य किमेयं ति?

पभावतिदेवेण य आगासत्थेण भणियं - सब्बमेयं मया तुज्ज्ञ पडिबोहणत्यं कयं, धम्मे ते अविघं भवतु, अण्णत्य वि मं आवतकप्पे संभरेज्जासि ति लविता गतो पभावती देवो।

सव्यपुरजणवएसु पारंपरिणणिग्योसो णिगतो-बीतीभए णगरे देवावतारिता पडिमा ति।

इतो य 'गंधरा' जणवयातो सावगो पव्यतितुकामो सव्यतित्यकरणं जम्मण-णिकखमण-केवलुप्याय-णिल्लाणभूमीओ दहुं पडिणियतो पव्ययामि ति।

तहे सुते 'वेदभूग्निगुहाए' रिसभातियण तित्यकरण सव्यरयणविचितियातो कणगपडिभाओ।

साहु सकासे सुणता ताओ दच्छामि ति तत्य गतो। तत्य देवताराधणं करेता विहाडियाओ पडिमाओ।

तत्य सो सावतो थयथुतीहि थुणतो अहोरतं णिवसितो। तस्स णिम्मलरयणेसु ण मणागमवि लोपो जातो।

देवता चितेति - "अहो माणुस भलुद्ध" ति।

तुड्डा देवया, "बूहि वरं" भणती उवट्टिता।

ततो सावगेण लावियं - "णियतो हं माणुसएसु कामभोगेसु किं मे वरेण कज्जं ति?

"अमोहं देवतादंसणं" ति भणिता देवता अद्वसयं गुलियाणं जहाचितिमणोरहाण पणामेति।

ताओ गहिताओ सावतेण, ततो णिगतो। सुयं चणण जहा बीतिभए णगरे सव्यालं-कारविभूसिता देवावतारिता पडिमा। तं दच्छामि ति, तत्य गतो, वंदिता पडिमा। कति वि दिणे पञ्जुवासामि ति तत्येव देवताययणे ठितो, तो सो तत्य गिलाणो जाति। "देसितो सावगो" काढं कणहगुलियाए पडियरितो। तुड्डो सावगो। किं मम पव्यतितुकामस्स गुलियाहि। एस भोगत्यिणी तेण तीसे जहाचितियमणोरहाण अद्वसयं गुलियाणं दिणणं, गतो सावगो।

ततो वि किणहगुलियाए विणणा (स) जात्यं किमेयाओ सव्यं जहाचितियमणोरहाओ उ णेति जह सञ्चं तो "हं उत्ततकणगवणणा सुरुवा सुभगा य भवामी— ति एणा गुलिया भविखया। ताहे देवता इव कामरूविणी परावत्तियवेसा उत्ततकणगवणणा सुरुवा सुभगा य जाया।

ततो पभिति जणो भासितमादतो एस किणहगुलिया देवताणुभावेण उत्ततकणगवणणा जाया, इयाणिं होडं से णामं "सुविष्णणगुलिय" ति, तं च घुसितं सव्यजणवएसु।

ततो सा सुवणणगुलिगा गुलिग-लद्धपच्चया भोगत्यिणी एगं गुलियं मुहे पविखवितं चितेति- "पञ्जोयणो मे राया भत्तारे भविज्ज" ति।

बीतीभयाओ उज्जेणी किल असीतिमितेसु जोयणेसु।

तत्य व अकम्हा रायसभाए पञ्जोयस्स अगतो पुरिसा कहं कहति- “बीतीभते णगरे देवावतारियपडिमाए सुस्सूसकारिगा कण्हगुलिगा देवताणुभावेण सुवण्णगुलिगा जाता, अतीत सोहगलावत्रजुता बहुजणस्स पत्थणिज्जा जाता।”

तं सुणेत्ता पञ्जोओ तस्स गुलुम्पातितो दूतं विसज्जेति उदायणस्स - “एर्य सुवण्णगुलियं सर्वं विसज्जेसु” ति।

गओ दूतो, विणतो उदायणो।

उदायणेण रुद्गेण विसज्जितो, अस्सकारियऽरुद्गेणितो य दूतो। जहार्ता दूतेण पञ्जोयस्स कहियं।

पुणो पञ्जोएण रहस्सितो दूतो विसज्जिओ सुवण्णगुलियाए जइ सं इच्छसि वा तोऽहं रहस्सियमागच्छामि।

तीए भणियं - जति पडिमा गच्छति तो गच्छामि, इयरहा णो गच्छे।

गंतुं दूतेण कहियं पञ्जोयस्स।

ततो पञ्जोतोऽणलगिरिणा हत्यरयणेण^१ सण्णदूणिमियगुडेण अप्परिच्छडेणागतो, अहोरतेण पतो, पओसवेलाए पविड्वा चरा, कहियं सुवण्णगुलियाते।

तत्य य बालवसंतकाले लेपगमहे वढुमाणे पुष्कारिता पञ्जोएण लेपगपडिमा मंडियपसाधिता गीताओज्जणिग्धोसेण रायभवणं पवेसिता देवतावतारियपडिमाययणं च।

भवियव्वताए छलेण य तम्म आययणे सा ठविता। इयरा देवावतारियपडिमा कुसुमो -मालियगीयवाइतपिग्धोसेण सव्वजणसमव्वखे लेप्पगछलेण णिता सुवण्ण-गुलिगा य।

पडिमं सुवण्णगुलिगं च पञ्जोतो हरिडं गतो।

जं च रयणिऽणलगिरी बीतीभए णगरे पवेसितो तं रयणिं अंतो जे गया तेऽणलगिरिणो गंधहत्यिणो गंधेण आलाणखंभं भंतु सब्बे वि लुलिया सव्वजणस्स य जायंति।

महाप्रतिजणेण य उण्णीयं णूणं एत्यऽणल गिरी हत्यी खंभविष्णद्वो आगतो, अण्णी वा कोइ वणहत्यी।

पथाए रण्णा गवेसावियं दिद्वोऽणलगिरिस्स आणिमलो। पवतिबाहतेणकहियं-रण्णो आगतो पञ्जोतो पडिगओ य। गवेसाविता सुवण्णगुलिया य ति, पायं तद्वा आघतो आसि ति। रण्णा भणियंपडिमं गवेसहि ति। गविड्वा। कुसुमोमालिया चिढुइ न व ति,

१. सन्नद्द स्थापितकवचेन।

देवतावतारियपडिमाए य गोसीचंदणसीताणुभावेण य कुसुमा णो मिलायति। एहायपयतोतराया मज्जाणह देसकाले देवाययणं अतिगओ, पेच्छती य पुब्बकुसुमे परिमिलाणो।

रण्णा चिंतियं - किमेस उष्णातो, उत अण्णा चेव पडिम ति? ताहे अवणेडं कुसुमे णिरिक्खिता, णार्य हडा पडिमा।

रुडो उदायणो दूतं विसज्जेति, जइ ते हडा दासचेडी तो हड णाम, विसज्जेतु मे पडिमं।

गतपञ्चागतेण दूतेण कहियं उदायणस्स - ण विसज्जेति पज्जोओ पडिमं।

ततो उदायणो दसहिं मउडबद्धरातीसह सब्बसाहण - बलेण पयातो। कालो य गिभो वट्टति। भरुजणवयमुत्तरंतो य जलाभावे सब्बखंधवारो ततियादिणे तिसाभिभूतो विसण्णो। उदायणस्स रण्णो कहियं।

रण्णा वि अप्पवहुं चिंतिउं णत्य अण्णो उवातो सरणं वा, णत्य परं पभावतिदेवो सरणं ति, पभावतिदेवो सरणोसि कओ। पभावतिदेवस्स कयसिंगारस्सासणकंपो जाओ, तेण ओही पउत्ता, दडा उदायणस्स रण्णो आवत्ती।

“तो ले आगलो तुळो गिर्द्धंखं पदे ८८५८ेरेहि पुढं अपातितो जणवओ पविरलतुमारसीवलेण वायुणा। ततो पच्छा वालपरिक्खितं व जलं जलधरेहि मुक्क सरस्स तं च जलं देवता-कय-पुक्खरणीतिए संठियं, देवकयपुक्खरणि ति अबुहजणों “ति पुक्खर” ति तित्यं पवत्तियं।

ततो उदायणो राया गतो उज्जेणि। रोहिता उज्जेणी।

बहुजणक्खए वडुमाणे उदायणेण पज्जोतो भणिओ - तुज्जं मज्ज य विरोहो। अम्हे चेव दुअग्गा जुज्जामो, किं सेसजणवएणं मारावणिं ति।

अबुवगयं पज्जोएण। दुअग्गाण वि दूतए संचारेण संलावो - कहं जुज्जामो? किं रहेहिं गएहिं अस्सेहिं? ति।

उदायणेण लवियं- जारिसो तुज्जङ्गलगिरि हत्थी एरिसो मज्ज णत्य, तहा तुज्ज जेण अभिष्येयं तेण जुज्जामो।

पज्जोएण भणियं - गएहिं असमाणं तुज्जं ति, कल्लं रहेहिं जुज्जामो ति। दूवग्गणे वि अवद्वियं।

विदियदिणे उदायणो रहेण उवडितो, पज्जोओऽणलगिरिणा हत्यि - रण्णो। सेसंखंधवारो सेण्णस्वपरिवारों पेच्छगो य उदासीणो चिद्वत्ति।

उदायणेण भणियं - एस भडुपडिवण्णो हतो मया, संपलग्गं जुद्दं, आगलो हत्थी।

उदायणेण चक्रभमे छूढो, चउसु वि पायतलेमु विद्धो सरेहि, पडिओ हत्थी।
एवं उदायणेण रणे जिता गहिओ पञ्जोओ। अग्नं परबलं। गहिया उज्जेणी। एट्टा
सुवण्णगुलिया। पडिमा पुण देवताहिङ्कुता संचालेत् ण सविकता। पञ्जोतो य ललाटे
सुणह॥५४॥ अंकितो।

इमं च से णामयं ललाटे चेव अंकितं—

कंठ॥। उदायणो ससाहणेण पडिणियतो, पञ्जोओ वि बद्धो खंधावारे णिज्जति।
उदायणो आगओ, जाव दसपुरोहे से॑ तत्थ वरिसाकालो जातो। दस वि मठबद्धरायाणो
णिवेसेण ठितो। उदायणस्स उवजेमणाए भुजति पञ्जोतो।

अणण्या पञ्जोसवणकाले पते उदायणो उववासी, तेण सूतो विसज्जितो।
पञ्जोओ अज्ज गच्छसु, किं ते उवसाहिज्जड ति।

गतो सूतो, पुच्छिओ पञ्जोओ। आसकियं पञ्जोतस्स।

“ए कयाति अहं पुच्छिओ, अज्ज पुच्छ कत्ता। णूर्ण अहं विससम्मसेण भत्तेण
अज्ज मारिज्जितकामो। अहवा - किं मे संदेहेण, एर्य चेव पुच्छामि।”

पञ्जोएण पुच्छिओ सूतो - अज्ज मे किं पुच्छज्जति। किं या हं अज्ज
मारिज्जितकामो?

सूतेण लवियं-ए तुमं मारिज्जसि। राया समणोवासओऽज्ज पञ्जोसवणाए
उववासी। तो ते जं हङ्कु अज्ज उवसाहयामि ति पुच्छिओ।

तओ पञ्जोतेण लवियं- “अहो सपावकम्मेण वसणपत्तेण पञ्जोसवणा वि ण
णाता, गच्छ कहेहि राइणो उदायणस्स जहा अहं पि समणोवासगो अज्ज उववासिओ
भत्तेण ए मे कज्जं।”

रुतेण गंतुं उदायणस्स कहियं - सो वि समणोवासगो अज्ज ए भुजति ति।

तहे उदायणो भणति - समणोवासगेण मे बद्धेण अज्ज सामातिय ए सुज्ञति,
ए य पर्म पञ्जोसवियं भवति, तं गच्छामि समणोवासगं बंधणातो मोइमि खामेमि
य सम्म, तेण सो मोइओ खामिओ य ललाटमंकच्छाय णद्वया य सोवणणो से पट्टो
बद्धो। तो परिति पट्टबद्धरायाणो जाता।

एवं ताव जति गिहिणो वि कयवेरा अधिकरणाईं ओसवंति, समणेहि पुण
सव्वपाव विरतेहि सुद्धुतरं ओसवेयव्वं ति। सेसं सवित्यरं जीवंतसामितप्तीए
वत्त्वा। ३१८६॥।

- दि० आ० चू० ।

कथा-सारांशः^०

जम्बूद्वीप में चम्पा नगरी निवासी स्वर्णकार कुमारनन्दी अत्यन्त स्त्री-लोलुप था। रूपवती कन्या दिखाई पड़ने पर धन देकर उससे विवाह कर लेता था। इस तरह उसने पाँच सौ दिवियों से विवाह किया था। मनुष्यभोग भोगते हुए वह जीवन यापन कर रहा था। इधर पञ्चशील नाम के द्वीप पर विद्युन्माली नामक यक्ष रहता था। हासा और प्रभासा उसकी दो प्रमुख पत्नियाँ थीं। भोग की कामना से वे विचरण कर रही थीं तब तक कुमारनन्दी दिखाई पड़ा। कुमारनन्दी को अपना अप्रतिम रूप दिखाकर वे छिप गईं। मुझ कुमारनन्दी द्वारा याचना करने पर वे प्रकट हो बोलीं पञ्चशील द्वीप आओ और वे अदृश्य हो गईं।

नाना प्रकार से प्रलाप करते हुए वह राजा के पास गया। राज-उद्घोषक से उसने घोषणा करवायी कि उसे (अनञ्जसेन को) पञ्चशील द्वीप ले जाने वाले को वह करोड़ मुद्रा देगा। एक वृद्ध नाविक तैयार हो गया। अनञ्जसेन उसके साथ नाव पर सवार होकर प्रस्थान किया। दूर जाने पर नाविक ने पूछा— क्या जल के ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है। उसने कहा— नहीं। थोड़ा और आगे जाने पर मनुष्य के सिर के प्रमाण का बहुत काला बन दिखाई पड़ा। नाविक ने बताया कि धारा में स्थित यह पञ्चशीलद्वीप पर्वत का बटवृक्ष है। यह नाव जब बटवृक्ष के नीचे पहुँचे तब तुम इसकी साल पकड़कर वृक्ष पर चढ़कर बैठे रहना। सान्ध्यवेला में बहुत से विशाल पक्षी पञ्चशील द्वीप से आयेंगे। वे रात्रि बटवृक्ष पर बिताकर प्रातःकाल द्वीप लौट जायेंगे। उनके पैर पकड़कर तुम वहाँ पहुँच जाओगे।

वृद्ध यह बता ही रहा था कि नौका बटवृक्ष के पास पहुँच गयी, कुमारनन्दी वृक्ष पर चढ़ गया। उपरोक्त रीति से जब वह पञ्चशील द्वीप पहुँचा, दोनों यक्ष देवियों ने कहा— इस अपवित्र शरीर से तुम हमारा भोग नहीं कर सकोगे। बालमरण तप्त कर निदानपूर्वक यहाँ उत्पन्न होकर ही हमारे साथ भोग कर सकोगे। देवियों ने उसे सुस्वादु पत्र-पुष्प, फल और जल दिया। उसके सो जाने पर उन देवियों ने सोते हुए ही हथेलियों पर रखकर उसे चम्पा नगरी में उसके भवन में रख दिया। निद्रा खुलने पर आत्मीयजनों को देखकर वह ठगा सा दोनों यक्ष देवियों का नाम लेकर प्रलाप करने लगा। लोगों के पूछने पर कहता— पञ्चशील के विषय में जो बृत्त सुना था उसको देखा और अनुभूत किया।

श्रावक नागिल उसका समवयस्क था। नागिल ने कहा कि जिनपञ्चपत्र धर्म का पालन करो जिससे सौधर्म आदि कल्पों में दीर्घकाल तक स्थित रहकर वैमानिक देवियों के साथ उत्तम भोग कर सकोगे। इन अल्प स्थिति वाली वाणव्यन्तरियों के साथ भोग

करने से क्या प्रयोजन? फिर भी उसने निदान सहित इङ्गिनीपरण स्वीकार किया। कालान्तर में वह पञ्चशैल द्वीप पर विद्युन्माली नामक यक्ष हुआ और हासा-प्रभासा के साथ भोग करते हुए विचरण करने लगा।

नागिल श्रावक भी श्रमण ब्रत अङ्गीकार कर, आलोचना और प्रतिक्रमण कर समय व्यतीत करते हुए अच्युतकल्प में सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

किसी समय नन्दीश्वर द्वीप में अष्टाहिंका की महिमा के निमित्त सभी देव एकत्रित हुए। समारोह में देवताओं ग विद्युन्माली देव को पटह (नगाड़ा) बजाने का दायित्व सौंपा गया। अनिच्छुक उसे बलात् लाया गया। पटह बजाते हुए उसे नागिलदेव ने देखा। पूर्वजन्म के अनुराग के कारण प्रतिबोध देने हेतु नागिलदेव उसके समीप आकर पूछा— मुझे जानते हो। विद्युन्माली ने कहा— आप शक्रादि इन्द्रों को कौन नहीं जानता है? तब देव ने कहा— इस देवत्व से भिन्न पिछले जन्म के विषय में कहता हूँ। विद्युन्माली के अनभिज्ञता प्रकट करने पर देव ने कहा कि मैं पूर्वभव में चम्पा नगरी का वासी नागिल था। तुमने पूर्वभव में मेरा कहना नहीं माना इसलिए अल्पक्रहित्वाले देवलोक में उत्पन्न हुए हो। विद्युन्माली ने पूछा— मुझे क्या करना चाहिए? अच्युत देव ने कहा— बोधि के निमित्त जिनप्रतिमा का अवलाभण करो। विद्युन्माली चुल्लिहिमवंत पर देवता की कृपा से जाकर गोशीर्षचन्दन की लकड़ी की प्रतिमा लाया। उसे रत्ननिर्मित समस्त आभूषणों से विभूषित किया और गोशीर्षचन्दन की लकड़ी की पेटी के मध्य रख दिया और विचार किया— इसे कहाँ रखूँ?

इधर एक वणिक की नौका समुद्र-प्रवाह में फँस गयी और छँ मास तक फँसी रही। भयभीत और परेशान वणिक अपने इष्ट देवता के नमस्कार की मुद्रा में खड़ा रहा। विद्युन्माली ने कहा— आज प्रातः काल यह वीतिभय नगर के तट पर प्रवाहित होगी। गोशीर्षचन्दन की यह लकड़ी वहाँ के राजा उदायन को भेटकर इससे नये देवाधिदेव की प्रतिमा निर्मित कराने के लिए कहना। देवकृपा से नौका वीतिभय पत्तन पहुँची। वणिक ने राजा के पास जाकर देव के कथनानुसार निवेदन किया और वृत्तान्त कहा। राजा ने भी नगरवासियों को एकत्र किया और वणिक से ज्ञात वृत्तान्त बताया। वणिकुद्वग से प्रतिमा बनाने के लिए कहा गया। ब्राह्मणों ने देवाधिदेव ब्रह्म की प्रतिमा बनाने के लिए कहा। परन्तु कुठार से लकड़ी नहीं कटी। ब्राह्मणों ने कहा— देवाधिदेव विष्णु की प्रतिमा बनाओ, फिर भी कुठार नहीं चली और इसप्रकार स्कन्ध, रुद्रादि देवगणों का नाम लेने पर भी जब शास्त्र कार्य नहीं किया, सभी खिन्न हुए।

रानी प्रभावती ने राजा को आहार के लिए बुलाया। राजा के नहीं आने पर प्रभावती देवी ने दासी भेजा। उसने राजा के विलम्ब का कारण बताया। दासी से वृत्तान्त ज्ञात होने पर रानी ने विचार किया— मिथ्यादर्शन से मोहित ये लोग देवाधिदेव से भी

अनभिज्ञ हैं। प्रभावती स्नान कर कौतुक मञ्जलकर, शुक्ल परिधान धारणकर हाथ में बलि, पुष्ट-थूपादि लेकर वहाँ गयी। प्रभावती ने बलि आदि सब कृत्य कर कहा— देवाधिदेव महानीर वर्द्धमान स्वामी हैं, उनकी प्रतिमा कराओ। इसके बाद कुठार से एक प्रहार में ही उस लकड़ी के दो टुकड़े हो गये। उसमें रखी हुई सर्वालङ्घनभूषिता भगवान् की प्रतिमा दिखाई पड़ी। घर के समीप निर्मित मन्दिर में राजा ने उस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।

कृष्णगुलिका नामक दासी मन्दिर में सेविका नियुक्त की गई। अष्टमी और चतुर्दशी को प्रभावती देवी भक्तिराग से स्वयं ही मूर्ति की पूजा करती थीं। एक दिन पूजा करते समय रानी को राजा के सिर की छाया नहीं दीख पड़ी। उपद्रव की आशङ्का से भयभीत रानी ने राजा को सूचित किया। और उपाय सोचा कि जिनशासन की पूजा से मरण का भय नहीं रहता है।

एक दिन प्रभावती ने स्नान-कौतुकादि क्रिया के बाद मन्दिर जाने हेतु शुद्ध वस्त्र लाने का दासी को आदेश दिया। उत्पात-दोष के कारण वस्त्र कुमुखरंग से लाल हो गया। प्रभावती ने उन वस्त्रों को प्रणाम किया परन्तु उसमें रङ लगा हुआ देखकर वह रुष्ट हो गई और दासी पर प्रहार किया, दासी की मृत्यु हो गयी। निरपराधिनी दासी के पर जाने पर प्रभावती पश्चात्ताप करने लगी कि दीर्घकाल से पालन किये गये मेरे स्थूलप्राणातिषात्त्रत खण्डित हो गये। यही मुझ पर उत्पात है।

प्रभावती ने प्रत्रज्या-ग्रहण की आज्ञा हेतु राजा से विनती की। राजा की अनुमति से गृह त्यागकर उसने निक्रमण किया। छ: मास तक संयम का पालन कर, आलोचना और प्रतिक्रमण कर मृत्यु के पश्चात् वैमानिक देव के रूप में उत्पन्न हुई।

राजा को देखकर, पूर्वभव के अमुराग से वह अन्य वेश धारण कर जैनधर्म की प्रशंसा करती है, तापस भक्त होने के कारण राजा उसकी बात स्वीकार नहीं करता था। (प्रभावती) देव ने तपस्वी वेश धारण किया। पुष्टफलादि के साथ राजा के समीप जाकर उसे एक बहुत ही सुन्दर फल भेंट किया। वह फल अलौकिक, कल्पनातीत और अमृतरस के तुल्य था। राजा के पूछने पर तपस्वी ने, निकट ही तपस्वी के आश्रम में ऐसे फल उत्पन्न होने की सूचना दी। राजा ने तपस्वी-आश्रम और वृक्ष दिखाने का तपस्वी से अनुरोध किया।

मुकुट आदि समस्त अलङ्कारों से विभूषित हो वहाँ जाने पर राजा को बनखण्ड दिखाई पड़ा। उसमें प्रविष्ट होने पर आश्रम दिखाई पड़ा। आश्रम के द्वार पर राजा को ऐसा आभास हुआ— मानो कोई कह रहा है— “यह राजा अकेले ही आया है। इसका वध कर इसके समस्त अलङ्कार ग्रहण कर लो। भयभीत राजा पीछे हटने लगा। तपस्वी भी चिल्लाया— दौड़ो-दौड़ो, यह भाग रहा है, इसे पकड़ो। तब सभी तपस्वी

हाथ में कमण्डल लेकर 'मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो' कहते हुए दौड़े। राजा भागने लगा।

भयभीत हो कर भागते हुए राजा को एक विशाल बनखण्ड दिखाई पड़ा। उसमें मनुष्यों का स्वर सुनाई पड़ा। उस बनखण्ड में प्रब्रेश करने पर राजा ने चन्द्र के समान सौम्य कामदेव के समान सौन्दर्ययुक्त, बृहस्पति के समान सर्वशास्त्र विशारद, बहुत से श्रमणों, श्रावकों, श्राविकाओं के समक्ष, धर्म का प्रवचन करते हुए एक श्रमण को देखा। राजा 'शारण-शारण' चिल्लाते हुए वहाँ गया। श्रमण ने कहा— भयभीत मत हो। 'छोड़ दिये गये' यह कहते हुए तपस्की भी चला गया, राजा भी आस्त हो गया। श्रमण से धर्म प्रवचन सुनकर राजा ने जिन धर्म स्वीकार कर लिया।

परन्तु यथार्थ में राजा अपने सिंहासन पर ही बैठा था, वह कहीं गया ही नहीं था। उसने सोचा— यह क्या है? आकाशस्थित (प्रभावती) देव ने बताया, यह सब (चमत्कार) मैंने तुझे प्रतिबोध देने के लिए किया था। 'तुम्हारा धर्म निर्विघ्न हो' यह कहकर देव अन्तर्घटना हो गये। समस्त नगरवासियों के मध्य घोषणा हुई, वीतिभय नगर में देव द्वारा अवतीर्ण प्रक्षिप्त है।

गान्धार जनपदवासी एक श्रावक ने सङ्कल्प किया कि सभी तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों—जन्म, निष्कर्षण, कैवल्यप्राप्ति, निर्बाणभूमियों आदि का दर्शन करने के पश्चात् प्रब्रज्या ग्रहण करूँगा। यात्रा के दौरान उसने वैताढ्य गिरि की गुफा में वर्तमान ऋषभादि तीर्थङ्करों की रत्ननिर्मित स्वर्ण-प्रतिमाओं के विषय में एक साधु के मुख से सुना। अतः दर्शन की इच्छा से वहाँ गया। स्तव एवं स्तुतियों से स्तवन करते हुए, अहोरात्र निवास करते हुए उसके मन में रत्नों के प्रति थोड़ा भी लोभ नहीं हुआ। उसके निलोभ से तुष्ट हो प्रत्यक्ष होकर देव ने उससे वर माँगने के लिए कहा। तब श्रावक ने कहा— भोग से निवृत्त मुझे वरदान से क्या प्रयोजन?

'मोहरहित देवत्व का दर्शन है', यह कहकर देवता ने यथाचिन्तित मनोरथों को पूर्ण करने वाली आठ सौ गुलिकायें प्रदान कीं। फिर श्रावक वीतिभय नगर में विद्यमान देव द्वारा अवतारित समस्त अलङ्कारों से विभूषित प्रतिमा के विषय में सुनकर, उसके दर्शनार्थ वहाँ गया। प्रतिमाराधन के लिए कुछ दिन तक मन्दिर में रुका और बीमार पड़ गया। प्रब्रज्याभिलाषी मेरे लिए ये गुलिकायें निष्प्रयोजन हैं— यह सोचकर उसने गुलिकायें मन्दिर की दासी कृष्णगुलिका को दे दी और वहाँ से प्रस्थान किया।

कृष्णगुलिका ने गुलिकाओं की शक्ति-परीक्षा के लिए यह सङ्कल्प कर एक गुलिका खा लिया कि मैं उदात्त कनकवर्णी, सुन्दर रूप वाली और ऐश्वर्यवाली हो जाऊँ। उससे वह देवता के समान कामरूपवाली, परदर्शित वेशवाली, उदात्त कनकवर्णवाली, सुन्दर रूप वाली और सुभगा हो गयी। लोगों में चर्चा होने लगी कि देवताओं की

कृपा से कृष्णगुलिका कनकबरणा हो गयी। इसका नाम स्वर्णगुलिका होमा चाहिए और वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गयी। गुलिका की अलौकिक शक्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाने पर उसने एक गुलिका मुख में रखकर कामना की कि प्रद्योत राजा मेरे पति हों।

वीतिभय रो छजिती असरी शेषन (३५०वीं) दूर होने पर भी आकस्मात् राजसभा में राजा प्रद्योत के सम्मुख एक पुरुष यह कथा कहने लगा— वीतिभय नगर में देवता द्वारा अवतारित प्रतिमा की सेविका कृष्णगुलिका देवकृपा से स्वर्णगुलिका हो गई है। अत्यधिक सौभाग्य तथा लाभण्य से युक्त वह बहुत से लोगों द्वारा पार्थित की जाने लगी है।

वार्ता सुनकर प्रद्योत ने स्वर्णगुलिका को पाने हेतु उदायन के पास दूत भेजा कि इसे स्वर्णगुलिका के साथ बापस करो। दूत के एहुँचने पर उदायन ने यथोचित सत्कार नहीं किया। अपने प्रस्ताव का अनुकूल उत्तर न मिलने पर प्रद्योत ने युद्धदूत भेजा कि यदि स्वर्णगुलिका नहीं भेजोगे तो युद्धार्थ आ रहा हूँ। वह दूत स्वर्णगुलिका से भी मिला। उसने कहा यदि प्रतिमा वहाँ जायेगी तभी मैं जाऊँगी, अन्यथा नहीं जाऊँगी। दूत के लौट आने पर प्रद्योत अपने हाथी-रल अनलगिरि पर सवार होकर युद्ध के लिए सुसज्जित हो, कबच धारण कर गुप्त रूप से प्रदोषवेला में नगर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ वसन्त काल में कृत्रिम प्रतिमा निर्मित करवाकर, उसे सजाकर उच्चस्वर में गीत गाते हुए देवतावतारित प्रतिमा लाने के लिए राजभवन में निर्मित मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। छल से कृत्रिम प्रतिमा को मन्दिर में स्थापित किया और देवतावतारित प्रतिमा का हरणकर प्रद्योत चला गया।

जिस रात अनलगिरि वीतिभय नगर में प्रविष्ट हुआ, गन्धहस्ति के गन्ध से उसके प्रवेश के विषय में लोगों को झात हो गया। महामन्त्री ने विचार किया— निश्चय ही अनलगिरि हाथी-स्तम्भ नष्ट कर आया हुआ है अथवा दूसरा कोई बनहस्ती आया हुआ है। प्रातःकाल अनलगिरि के आने के लक्षण दिखाई पड़े। राजा को बताया गया कि प्रद्योत आकर बापस चला गया। स्वर्णगुलिका की खोज करवाने पर झात हुआ कि उसके निमित्त ही प्रद्योत आया था। मन्दिर में विद्यमान प्रतिमा की सत्यता की परख के लिए कि यह देवतावतारित प्रतिमा है या उसकी प्रतिमूर्ति, उस पर पुष्प रखे गये। मूल प्रतिपा के गोशीर्वचन्दन की शीतलता के प्रभाव से पुष्प मलिन नहीं होते थे। राजा स्नान करने के पश्चात् मध्याह्न में देवायतन गये और पूर्व कुसुमों को म्लान हुआ देखकर राजा ने जान लिया— मूल प्रतिमा का हरण हो गया है। क्रोधित उदायन ने चण्डप्रद्योत के पास दूत भेजा कि दासी को भले ही हर ले गये किन्तु प्रतिमा बापस भेज दो। चण्डप्रद्योत की ओर से सकारात्मक उत्तर न मिलने पर उदायन ने समस्त साधनों एवं सेनाओं के साथ प्रस्थान किया। ग्रीष्म का समय होने से भरु जनपद में

यापा करते हुए जलाभाव से समस्त सेना प्यास से व्याकुल हो गयी। समस्या के निवारण के लिए उदायन राजा ने प्रभावती देव की आराधना की। देव के शासन में कम्य उत्पन्न हुआ। देव द्वारा अवधिज्ञान का प्रयोग करने पर उदायन राजा की आकृति दिखाई पड़ी। देव ने तुरन्त आकर बादलों से जलवधी करवायी जिससे देवता द्वारा निर्मित पुष्कर में जल एकत्र हो गया। इस देवकृत पुष्कर को ही अज्ञानी लोग पुष्करतीर्थ कहने लगे।

उज्जयिनी पहुँचकर उदायन राजा ने प्रद्योत को घेर लिया और अधिसंख्य लोगों की उपस्थिति में उससे कहा— तुमसे हमारा विरोध है। हम दोनों ही युद्ध करेंगे, शेष जनों को मरवाने से क्या? प्रद्योत ने इसे स्वीकार कर लिया। बाद में दूत के माध्यम से सन्देश भिजवाया कि किस प्रकार युद्ध करेंगे— रथों से, हाथियों से या अशों से। उदायन ने कहा तुम्हारे हाथी अनलगिर जैसा उत्तम हाथी मेरे पास नहीं है, तब भी तुझे जो अधीष्ट है उससे युद्ध करो। प्रद्योत ने कहा— रथ से युद्ध करेंगे। निश्चित दिन उदायन रथ पर उपस्थित हुआ जबकि प्रद्योत अनलगिर हाथी-रत्न के साथ। शेष सेनापति एवं सैन्यसभूह दर्शक मात्र था, तटस्थ था।

युद्ध आरम्भ होने पर उदायन ने हाथी के चारों पैरों को बींध दिया। हाथी गिर पड़ा, उज्जयिनी पर उदायन का अधिकार हो गया। स्वर्णगुलिका भाग गई। देवताधिष्ठित प्रतिमा को पुनः वहाँ से लाना सम्भव नहीं हुआ। प्रद्योत के ललाट पर “दासीपति” यह नाम अङ्कित करवाया गया।

उदायन सेना सहित लौट आया, प्रद्योत भी बन्दी बनाकर लाया गया। उदायन के बापस आते-आते वर्षाकाल आ गया। पर्युषण पर्व आरम्भ होने पर उदायन ने दूत द्वारा प्रद्योत से पूछवाया कि वे क्या आहार प्रहण करेंगे। दूत द्वारा अप्रत्याशित रूप से पूछने पर प्रद्योत आशङ्कित हो गया कि ग्राण का खतरा है। दूत ने शङ्का-निवारण किया कि श्रमणोपासक राजा आज पर्युषण का उपवास रखते हैं इसलिए तुम्हें इच्छित आहार प्रदान करेंगे। प्रद्योत को दुःख हुआ कि पापकर्म युक्त होने के कारण पर्युषण का आगमन भी नहीं जान पाया। उसने उदायन से कहलवाया कि वह भी श्रमणोपासक है और आज आहार नहीं प्रहण करेगा। तब उदायन ने कहा— श्रमणोपासक को बन्दी बनाने से मेरा सामायिक शुद्ध नहीं होगा और न ही सम्यक् पर्युशमन होगा। इसलिए श्रमणोपासक को बन्धन से मुक्त करता हूँ और सम्यक् क्षमापण करूँगा। उसने प्रद्योत को मुक्त कर दिया और ललाट पर जो अङ्कित था उस पर स्वर्णपट्ट बींध दिया। उसके बाद से वह ‘पट्टबद्ध’ राजा के रूप में प्रख्यात हो गया।

इसप्रकार यदि गृहस्थ भी वैरवश किये गये पापों का उपशमन करते हैं तो पुनः सर्वपाप से विरत श्रमणों को तो अच्छी प्रकार से उपशमन करना चाहिए।

३. घृत्य दमक — वृत्तान्त

खद्गाऽदाणियगेहे पायस दहूण चेडरुवाहं ।
 पिथरो आसण खीरे जाइय लळे य तेणा उ ॥ १७ ॥
 पायसहरणं छेत्ता पच्चागय दमग असियए सीसं ।
 भाऊय सेणावति खिंसणा य सरणागतो जत्य ॥ १८ ॥

—द०नि० ॥

एगो दमओ पच्चंतगामवासी तेण सरतकाले चेडरुवेहिं जाइजंतेण दुखं मगिगवण पायसो रळो। तत्य चोरसेणा पडिया। तेहिं विलोसियं। सो य पायसो सत्यालीतो हरितो तेणोहि। सो य अडवीतो तणं लुणिऊण अज्ज तोहं समं पायसं भोक्षामीति जाव इंतस्स चेडरुवेहिं रुखमाणोहिं सिरुं, कोषेण गंतुं तेसि चोरण बक्खेवेणं सेणावहस्स असियएण सीसं छिंदिऊण णाहुो। ते य चोरा हयसेणावतिया णाहुा। तेहिं गंतूण पलिंतस्स छहरओ भाया सेणावती अभिसितो। ताहे ताओ मासा घहभहणीओ तं भण्ठति, तुम्ह अम्ह यहरियं अमारेऊण इच्छासि सेणावहत्तणं काळं? तेण गंतूण सो आणितो दमगो जीवगज्जो वराओ। तेसि पुरओ णिगलियं बंधिऊण भणितो धणुं गहाय भणाह, कत्य? आहणापि सरेण माझ्यारगा?, तेण भणियं-जत्य सरणागया विजङ्गति। तेण चिंतिऊण भणियं-कङ्गाविं नो सरणागता आहयंति, ताहे सो पूएऊण विसज्जितो। जति ताव तेण घम्प अथाणमाणेण मुक्को, किमंग पुण साधुणा परलोगधीतेण अब्जमुखगतस्स सम्मं सहितव्यं खमिदव्यं।

—द०च० ।

खद्गिं आदाणि जेसु गिहेसु खद्गादाणीयगिहा - ईश्वरगृहा इत्यर्थः। तेसु खद्गादाणी-यगिहेसु, खणकरले पायसो णवगपयसाहितो। तं दहूं दमगचेडा दमगो-दरिहो तस्स पुत्रभंडा इत्यर्थः पितरं ओभासंति- “अफ्ह वि पायस देहि” ति भणितो तेण गामे दुद्धतंदुले ओहारिऊणसम्पियं भारियाए- “पायसमुवसाहेहि” ति। सो य पच्चंतगामो, तत्य चोरसेणा पडिता, ते य गामं विलुलिउमाढता।

तस्स दमगस्स सो य पायसो सह थालीए हडो। त बेलं सो दमगोछेत्त गतो। सो य छेतातो तणं लुणिऊण आगतो, तं चिंतेति— “अज्ज चेडरुवेहिं समं भोक्षेमि” ति धरंगणपत्तस्स चेडरुवेहिं कहितं सत्तो “घम्प”, ति भणातेहि सो य पायसो हडो। सो तणपूलियं छेडेऊण गतो कोहाभिभूतो, पेच्छति सेणाहिवस्स पुरतो पायसथालियं ठवियं। ते चोग पुणी गमं पविट्ठा, एगागी सेणाहिवो चिह्निः। तेण य दमगेण असिएण

सीसं छिण्णं सेणाक्तिस्स णट्ठो दमगो। ते य चोरा हण्णायगा णट्ठा। तेहि य गतेहि मयकिच्चे काडं तस्स डहरतरतो भाया सो सेणाहिवो अभिसितो। तस्स मायभगिणीभाउडजाइवातो अ खिंसंति— “तुम भाओवरतिए जीवते अच्छति सेणाहिवतं काडं, घिरत्थु ते जीवियस्स। सो अपिरसण गतो गहितो - दमगो जीवगेज्जो, आणितो निगडियवेढिगो सयणमज्जागतो आसणड्हितो वणगं गहाय भणति-अरे अरे भातिवेरिया, कत्थ ते आहणामि ति।

दमगेण भणियं “जात्य सरणागता पहरिज्जंति तत्य पहराहि” ति।

एवं भणिते सयं विंतेति— “सरणागया णो पहरिज्जंति।” ताहे सो माउमगिणीसयणार्ण च मुहं णिरिक्खति।

तेहिं ति भणितो— “णो सरणागयस्स पहरिज्जंति”, ताहे सो तेण पुण्यकूण मुक्को।

जति ता तेण सो धमं अजाणमाणेण मुक्को, किमं णु पुण साहुणा परलोगभीतेण। अब्मुवगयवच्छुल्लेण अब्मुवगयस्स समं ण सहियव्वं? खमियव्वं ति।

इयाणिं “कसाय” ति दारं।

तेसिं चउककणिकखेवो जहावट्ठाणे कोहो चउव्विधो उदगराइसमाओ वालुआराइसमाणो पुढवीराइसमाणो पव्वयगराइसमाणे दारं।

— निं० भा० च००।

कथा-सारांश^{१२}

द्रमक नामक नौकर का पुत्र, स्वामी के घर में बना क्षीरान्न देखकर, उसे माँगने लगा। नौकर गाँव में से दूध और चावल माँगकर लाया और पत्नी को क्षीरान्न बनाने के लिए कहा। निकट के गाँव में ठहरा हुआ चोरों का दल गाँव लूटने के लिए आया और उस गरीब के घर से क्षीरान्न से भरी थाली उठा ले गया। उस समय वह नौकर खेत पर गया हुआ था। खेत से तृण काटकर लौटते समय वह यह सोचते हुए घर आया कि आज बच्चे के साथ क्षीरान्न खाऊँगा। बच्चे ने क्षीरान्न की चोरी के बारे में बताया। द्रमक तृण-पूल रखकर क्रोध से भरकर चला। चोरों के सेनापति के सामने क्षीरान्न की थाली देखा, सेनापति अकेला था। चोर दुबारा गाँव में चले गये थे। द्रमक ने तलवार से उसका सिर काट लिया। सेनापति का वध हो जाने से चोर भी भाग गये। सेनापति का छोटा भाई नया सेनापति बना। सेनापति की माँ, बहन और भाभी गये। सेनापति का छोटा भाई नया सेनापति बना। सेनापति की माँ, बहन और भाभी उसकी निन्दा करती थीं— भाई के बैरी के जीवित रहने पर तुम्हारे सेनापतित्व को धिक्कार है। सेनापति क्रोध में भरकर गया और द्रमक को जीवित पकड़कर लाया। उसने द्रमक से पूछा— हे! हे! प्रातुवैरी! किस अख से तुम्हें मारहैं। द्रमक ने उत्तर

दिया— जिससे शरणागत पर प्रहार करते हैं उससे प्रहार करो। द्रमक के इस उत्तर पर वह सोचने लगा— शरणागत पर प्रहार नहीं किया जाता है और उसने द्रमक को मुक्त कर दिया।

यदि धर्म के उस अज्ञानी ने भी मुक्त कर दिया तो पुनः परलोक से भयभीत बात्सल्य के जानकार क्यों नहीं सम्यकत्व का पालन करेंगे।

४. क्रोध कषाय विषयक मरुक दृष्टान्त

अवहंत गोण मरुए चउणह वप्पाण उक्करो उवरि।

छोडुं मए सुबहाउतिकोबे णो देमो पच्छित्ते ॥१०३॥

— द०नि०३१ —

एत्य एसेब दमगो।

अधवा - एगो मरुगो, तस्स इक्को बइल्लो। सो य तं गहाय केथारे हलेण बाहेमि ति गतो। सो य परिस्संतो पडितो, ण तरति उड्डेउं।

ताहे तेण धिज्जातिएण हण्ठेण तस्स उवरि तुतगो भग्गो, लहावि ण उझीत। अण्णकडाभावे लेहुएहिं हणिउमारद्दो, एगकेयारलेहुएहिं, तहावि णोड्डितो, एवं चउणह केयारण उक्केरण आहतो, णो उड्डितो।

तो तेण लेहुपुझो कतो, मओ सो गोणो।

ताहे सो बेभणो गोवज्ज्ञविसोहणतर्य धिज्जातियाणमुवद्धितो। तेण जहावतं कहियं, भणियं च तेण - अज्ज वि तस्सोवरि मे कोहो ण फिह्ति।

ताहे सो धिज्जातिएहिं भणिओ - तुम अतिक्कोही, णत्यि ते सुखी, ण ते पच्छितं देमो, सव्वलोगेण वज्जितो सोउसिलोगपडितो जातो।

एवं साहुणा एरिसो कोवो ण कायच्चो। अह करेज्ज तो उदगरातीसमाणेण भवियच्चं। जो पुण पक्षिख्य- चाउम्मासिय-संबच्छरिएसु ण उवसमति तस्स विवेगो कायच्चो, जहा धिज्जातियस्स।

— नि० मा० चू० —

कथा-सारांश^{१४}

मरुक नामक व्यक्ति के पास एक बैल था। वह उसे जोतने के लिए खेत पर ले गया। जीतते-जीतते बैल थककर गिर पड़ा और उठ न सका। तब मरुक ने उसे इतना मारा कि मारते-मारते पैरा या चाबुक टूट गया, तब भी बैल नहीं उठा। एक

क्यारी के ढेलों से मारा, फिर भी नहीं उठा। जार क्यारियों के ढेर से मारा, फिर भी नहीं उठा। तब उसने बैल पर ढेलों का ढेर कर दिया और बैल मर गया।

गोवधजनित पाप की विशुद्धि के लिए वह मरुक किसी ब्राह्मण के पास गया। सारी बात अताकर उसने अन्त में कहा कि आज भी बैल के ऊपर मेरा क्रोध शान्त नहीं हुआ। ब्राह्मण ने कहा— तुम अतिक्रोधी हो, तुम्हारी शुद्धि नहीं है, तुम्हें प्रार्थित नहीं दूँगा।

इसप्रकार साधु को भी क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि क्रोध उत्पन्न भी हो तो वह जल में पड़ी लकीर के समान हो। जो क्रोध पुनः एक पक्ष में, चातुर्मास में और वर्ष में उपशान्त न हो उसे विवेक द्वारा शान्त करना चाहिए।

५. मान कषाय विषयक अत्यहुक्तारिणी भट्ठा दृष्टान्त

विषिष्युयाऽच्छंकारिष्य भट्ठा अहुसुयमग्गओ जाया।

वरग पठिसेह सविष्टे, अणुयत्तीह पव्याणं च ॥१०४॥

णिवच्चितं विगालपडिछ्छणा य दारं न देमि निषक्कहणा ।

खिंसा णिसि विगमणं ओरा सेणावई गहणं ॥१०५॥

नेष्ठुइ जलूगवेज्जगगहण तम्मि य अणिच्छमाणमिमि ।

गाहावई जलूगा धणभाउग कहण पोदणया ॥१०६॥

सवगुणसहस्र पाणं, वणभेसज्जं वतीसु जायणता ।

तिक्खुल दासीचिंदण ण य कोव सर्वं पदणं च ॥१०७॥

— द०नि० ११।

दारं सा णाडगाङ्केति। ताहे तेण चिरं अच्छिकण भणिया- सा तुम सेव सामिणी होउज्जाहि। सा दारं डग्गाङ्केऊण अडविहृत्ता भाणोण गता। चोरेहि धेनुं चोरसेणावतिस्स उवणीता। तेण भणिता महिला मम होहिति। सा णोच्छति तेण चलामोडिए ण गेणहूंति। तेहि जलोगवेज्जस हत्ये विककीता। तेणवि भणिता मम महिला होहिति। सा णोच्छति रोसेण जलोगाओ पङ्किच्छसुति भणिता। सा तत्य णावणीतेणं पवित्रया जलोगाओ गिणहूंति। तं असरिसं करेति। ण य इछति। अप्सरावलावण्णा जाता। भाउतेण य परगमाणो पञ्चभिज्ञा या मोएडण नीता वमणे विरेअणोहि य पुण णदीकाङ्कण अमच्छेष नेताविता तीसे य तेल्लं सतसहस्रपाणं पक्कं तं च सामुणा भग्गतं। ताए दासी संदिग्गा आणेहि, ताए आणोतीए भावणं भिज्ञ, एवं तिक्खिवारेभिषणणि, णव्य रुद्गा तिसु सतसहस्रेसु विषिष्युसु। बडत्य वारा अप्पणा डहुतुं दिल्ले। जति ताव ताए मेरुसरिसेवमो गाणो निहतो किंमंग पुण सामुणा, निहणियव्वो चेव।

— द०चू०।

‘खितिपतिद्विय’ पागरं। ‘जियसत्’ राया। ‘धारिणी’ देवी। ‘सुबुद्धी’ सचिवो। तत्थ पागरे ‘धणो’ णाम सेही। तस्य ‘भद्रा’ भारिया। तस्य य धूया भद्रा। सा य माडपिय-भाउयाण य उवातियसलयद्वा। मायपितीहि य सव्वपरियणो भण्णति - “एसा जं करेठण केण ति किंचिच्चंकारेयच्च” ति। ताहे लोगेण से कयं णाम अच्चंकारियभद्रा। सा य अतीवहृववती, बहुसु वणियकुलेसु वरिज्जति।

धणो य सेही पण्णति - जो एवं ण चंकारेहिति तस्सेसा दिजिजहिति ति। एवं वरो पडिसेहेति।

अण्णया सचिवेण वरिता। धणेण भणियं - जइ ण किंचि वि अवराहे चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो। तेण य पडिसुयं। तस्स दिण्णा। भारिया जाता। सो य ण चंकारेति।

यो य उमच्च्यो रातीने ज्ञापे गते उक्काळज्जिति उम्मेडे अवाळति। सा तं दिणे दिणे खिंसति सवेलाए णागच्छसिति। ततो सवेलाए एतुमाढतो।

अण्णया रणो चिंता जाता - किमेस मंती सवेलाए गच्छति ति।

रणो अणोहिं कहिये - एस भारियाए आणार्भंगं न करेति ति।

अण्णया रणा भणियं - इमं एरिसं तारिसं च कज्जं च सवेलाए तुमे ण गंतव्यं। सो ओसुअभूतो वि रायाणुअतीए ठितो।

सा य रुद्धा वारं बथेडं ठिता। अमच्च्यो आगतो डस्मूरे, “दारमुग्धाडेहि” तिं बहुं भणिता वि जाहे ण उग्धाडेति ताहे तेण चिरं अच्छिकृण भणिता- “तुमं चेव सामिणी होज्जासि ति अहो मे आलो अंगीकतो।”

ताहे सा “अहमालो” ति भणिया दारमुग्धाडेडं फियधरं गता। सव्वालंकारविभूसिता अंतर्य चोरेहिं गहिता। तेण सा भणिता— मम महिला होहि ति। सो तं बला ण भुजति, सा वि तं गोच्छति। ताहे तेण वि सा जल्लगवेज्जस्स हत्थे विक्कीता। तीसे सव्वालकारं घेनुं चोरेहिं सेणावतिस्स उवणीता।

तेण वि सा भणिता - मम भज्जा भवाहि ति। तं पि अणिच्छंतीए तेण वि रसिएण भणिता— “वणं” - पाणीयं, तातो जलुगा गेणहाहि” ति। सा अप्पार्ण णवणीएण मवखेडं जलभवगाहति, एवं जलुगातो गेणहति। सा तं अणणुरुवं कम्म करेति ण य सीलर्भंग इच्छति। सा तेण रुहिरसावेण विरुवलावण्णा जाया। इसो य तस्स भाया दूयकिच्चेण तत्थागतो, तेण सा अणुसारिस ति काउं पुच्छता, तीए कहियं, तेण दब्बेण मोयादिया आणिया य। वमणविरेयणेहिं पुण णवसरीरा जाता।

अमच्चेण य पच्चापेडं घरमाणिया सव्वसामिणी ठविया। ताए सो कोहपुरस्सरस्स माणस्स

दोसं दद्व अभिगग्ने गहितो- “ण मे कोहो माणो वा कायब्बो॥३१९४॥३१९५॥
।३१९६॥

तस्स घरे सयसहस्राणं तेल्लमत्थि. तं च साहुणा वणसंरोहणात्थं ओसदं मग्गिवं।

ताए य दासचेडी आणता, “आणोहि” ति। ताए आणतीए सहतेल्लेण एर्ग भायणं
भिण्णं। एवं तिण्णं भायणाणि भिण्णाणि। ण य सा रट्टा। तिसु य सयसहस्रेसु
विणट्टेसु चउत्थवाराए अण्णा उट्टेऊणं दिण्णं।

जइ ताए कोइपुरस्सरो भेरुसरिसो माणे णिज्जितो तो साहुणा सुद्धुतरं णिहंतब्बो
इति॥३१९७॥

- निं प्रा० चू० ।

कथा-सारांशः*

क्षितिश्रतिष्ठित नगर में जितशनु राजा था, धारिणी देवी उसकी रानी और सुबुद्धि
उसका मन्त्री था। वहाँ धन नामक श्रेष्ठी था, भट्टा उसकी पुत्री थी। माता-पिता ने सब
परिजनों से कह दिया था, भट्टा जो भी करे, उसे रोका न जाय, इसलिए उसका नाम
'अच्छंकारिय' भट्टा पड़ा। वह अत्यन्त रूपवती थी। बहुत से वणिक्यरिवारों ने उसका
वृण्ण करना चाहा। धनश्रेष्ठिउनसे कहता था कि जो इसे इच्छानुसार कार्य करने से
मना नहीं करेगा उसे ही यह दी जायगी, इसप्रकार वह वरण करने वालों का प्रस्ताव
अस्वीकार कर देता।

अन्त में एक मन्त्री ने भट्टा का वरण किया। धन ने उससे कहा— यदि अपराध
करने पर भी मना नहीं करोगे, तब दूँगा। मन्त्री द्वारा शर्त मान लेने पर भट्टा उसे प्रदान
कर दी गई। कुछ भी करने पर वह उसे रोकता नहीं था।

वह अमात्य राजकार्यवश विलम्ब से घर लौटता था, इससे भट्टा प्रतिदिन रुष्ट
होती थी। तब वह समय से घर आने लगा। राजा को दूसरों से ज्ञात हुआ कि वह
पत्नी की अप्पले का उलझन नहीं करता है। एक दिन आवश्यक कार्यवश राजा ने
रोक लिया। अनिच्छा होते हुए भी उसे रुकना पड़ा। अत्यन्त रुष्ट हो भट्टा ने दरवाजा
बन्द कर लिया। घर आकर अमात्य ने दरवाजा खुलवाने का बहुत प्रयास किया फिर
भी जब भट्टा ने नहीं खोला तब मन्त्री ने कहा— तुम ही स्वामिनी बनो, मैं जाता हूँ।

रुष्ट हो वह द्वार खोलकर पिता के घर की ओर चल पड़ी। सब अलङ्कारों से
विभूषित होने के कारण चोरों ने रास्ते में पकड़कर उसके सब अलङ्कार लूट लिये
और उसे सेनापति के पास लाये। सेनापति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा पर वह
उसे नहीं चाहती थी। उसने बलपर्वक भोग नहीं किया, और उसे जलूक वैद्य के हाथ

बेच दिया। वैद्य ने भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। भट्ठा उसकी भी पत्नी बनने के लिए सहमत नहीं हुई। भट्ठा क्रोध में जलूक के प्रतिकूल वचन बोलती और उसकी इच्छा के विपरीत कार्य करती थी। वह शीलभड़ नहीं करना चाहता था। भट्ठा रक्तस्राव के कारण कुरुप हो गई। इधर उसका आई कार्यवश वहाँ आया और धन देकर उसे छुड़ा लाया। बमन और विरेचन द्वारा पुनः उसे रूपवती बनाकर मन्त्री के पास भेजा। स्वीकार कर अमात्य उसे घर लाया।

भट्ठा ने क्रोध पुरस्सर मान का दोष देखकर अभिग्रह किया मैं मान अथवा क्रोध कभी नहीं करूँगी।

६. माया कथाय विषयक पाण्डुरार्या दृष्टान्त

पासत्यि पंडरज्ञा परिण्ण गुरुमूल णाय अभिओगा ।

पुच्छति च पद्मिककमणे, पृथ्व्यम्भासा अत्त्वय्यि ॥१०८॥

अपद्मिककम सोहम्ये अभिओगा देवि सक्कतोसरणं ।

हस्तिणि वायणिसग्गो गोतमपुच्छा च वागरणं ॥१०९॥

- दशा०नि० १० ।

मायाए पंडरज्ञा नाम साधुणी सा विज्ञासिद्धा आभिओगगाणि बाहुणि जाणति। जणो से परायकरसिरो अच्छति। सा अण्णदा कदापि आवरियं भण ति भन्तं पञ्चकम्भावेह, ताहे गुरुहिं सत्त्व छान्नविता पञ्चकम्भातां। ताहे स भन्ते पञ्चकम्भाते।।

एगाणिया अच्छति, ण कोइ तं आकाति ताहे ताए विज्ञाए आवाहितो जणो आगंतुषारन्दो पुण्यगंधाणि धित्तूण। आवरिएहिं दोवि पुच्छिता वग्गा भणति-ण चाणामो। सा पुच्छिता भणति-आमं यए विज्ञाए कतं। तेहिं भणितं-दोसिर। ताए लोसहुं, द्विसो लोगो आगंतुं। सा पुणो एगागी पुणो आवाहितं सिद्धं च ततियं अणालोइतुं कालगता सोधम्ये कप्पे एरावणस्स अगगभहिसी जाता ताहे आगंतूण भगवतो पुरतो ठिल्का हस्तिणी होडं भहता सहेण वाउककायं करेति। पुच्छा उद्विता वागरितो भगवता पुञ्चभवो से। अण्णोवि कोपि साधु साधुणी वा मा एवं काहिति। सोवि एरिसं पाविहिति महितेण वा तं करेति; तम्हा माया ण कायव्वा। लोधे लुखण्णंदो कालहृत्तो जेण अप्पणो पादां अग्गा, तम्हा लोधो ण कातव्वो।

- द० चू० ।

णाणातितियस्स पासे ठिता पासत्यी, सरीरोवकरणब (ण) उसाणिच्चं सुविकल्पवासपरिहरिता विचिद्वृद्धि ति। लोगेण से णमं 'कयं पंडरज्ञ' ति।

सा य विज्ञा-मंत-वसीकरणच्चाटणकोउएसु य कुसला जणेसु पठंज्जति।

जणो य से पणयसिरे कथंजलितो चिद्गति।

अद्वयातिकक्ता वेरगमुवगता गुरुं विण्णवेति - “आलोयणं पदच्छामि” त्ति।

आलोइए पुणो विण्णवेति - “ण दीहं कालं पवर्ज्ज काडं समत्या”।

ताहे गुरुहिं अप्य कालं परिकम्बवेता विज्ञामंतादियं सबं छड्वावेता “परिण”

त्तिअणसणां पच्चकखायं। आवरिएहि उभयवगगो वि वारितो ण लोगस्स कहेयब्बं।

ताहे सा भते पच्चकखाते जहा पुव्वं बहुजणपरिवुडा अच्छित्ता इयाणिं न तहा अच्छति, अप्यसाहुसाहुणिपरिवारा चिद्गुड। ताहे से अरती कज्जति। ततो ताए लोगवसीकरणविज्ञा मणसाआवाहिता।

ताहे जणो पुफधूवगंधहत्थो अलंकितविभूसितो वंदवदेहिं।

उभयवगगो पुच्छितो - किं ते जणस्स अकखायं?

ते भणति - “ण व” त्ति।

सा पुच्छिता भणति - यम विज्ञाए अधिओइयं एति।

गुरुहिं भणिता - “ण वष्टुहि” त्ति।

ताहे पडिकक्ता। सर्व ठितो लोगो आगंतु। एवं तओ आरा सम्मं पडिकक्ता, चउत्थावराते पुच्छिता ण सम्मपाउट्टा भणति य - पुव्वब्बासाहुणा आगच्छति।।३१९८।।

अणालोइए कालगता सोहम्मे एरावणस्स अगमहिसी जाता। ताहे सा भगवतो वद्धमाणस्स समोसरणे आगता, धम्मकहावसाणे हत्थिणिरुवं काडं भगवतो पुरतो ठिच्चा महतासदेण वातं कम्मं करेति।

ताहे भगवं गोयमो जाणगपुच्छं पुच्छति।

भगवया पुव्वभवो से वागरितो। मा अण्णो वि को ति साहु साहुणी वा मायं काहिति, तेणेयाए वायकम्मं कतं, भगवता वागरियं।

तम्हा एरिसी माया दुरेता ण काथब्बा।

- निं चा० चू० ।

कथा-सारांशः^{१४}

पाण्डुराया नामक एक शिथिलाचारिणी साध्वी थी। वह पीत संबलित शुक्ल दस्तो से सदा सुसज्जित रहती थी। इसलिए लोग उसे पाण्डुराया नाम से जानते थे। उसे विद्यासिद्ध थी और वह बहुत से मन्त्रों को जानने वाली थी। लोग उसके समक्ष करबद्ध सिर झुकाये बैठे रहते थे। उसने आचार्य से भक्तप्रत्याख्यान कराने के लिए कहा। तब गुरु ने सब प्रत्याख्यान करा दिया। भक्तप्रत्याख्यान करने पर वह अकेली बैठी रहती थी। उसके दर्शनार्थ कोई नहीं आता था। तब उसने विद्या द्वारा लोगों का आहान किया।

लोग पुष्ट-गन्धादि लेकर उसके पास आना आरम्भ कर दिये। श्रावक-श्राविका धर्म से पूछा गया कि क्या उन्हें बुलाया गया है? लोगों ने अस्वीकार किया। पूछने पर वह बोली मेरी विद्या का चमत्कार है। आचार्य ने कहा— त्याग करो। उसके द्वारा चामत्कारिक कार्य छोड़ने पर लोगों ने आना छोड़ दिया। आर्या पुनः एकाकिनी हो गई। तब चमत्कार द्वारा पुनः लुप्तित आरम्भ लिया। आर्या द्वारा पूछा गया कि लोग पूर्व अभ्यास के कारण आते हैं। इसप्रकार बिना आलोचना किये ही मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म कल्प में ऐरावत की अग्रमहिषी उत्पन्न हुई वह भगवान् महावीर के समवसरण में हस्तिनी का रूप धारण कर आई है। कथा के अन्त में उच्चस्वर से शब्द की हैं। भगवान् ने पूर्वभव कहा। इसलिए कोई भी साधु अथवा साध्वी ऐसी दुरन्ता माया न करे।

७. लोभ कथाय विषयक आर्यमन्तु दृष्टान्त

महुरा मंगु आरम्भ बहुसुव वेरग्ग सहूपूयाय।
सातादिलोभ णितिए, भरणे जीहा य णिद्धमणे ॥११०॥

- द०नि० ॥

अज्जमंगु आयरिया बहुसुया अज्ञागमा बहुसिस्परिवारा उज्जयविहारिणो ते विहरता भहुरं णगरीं गता। ते “वेरग्ग” ति काडं सहूहिं वत्यातिएहि पूहता, खीर-दधि-घय-गुलातिएहि दिणे दिणे पञ्जतिएण पडिलाभर्यति।

सो आयरिओ लोभेण सातासोक्खणडिबद्धो ण विहरति। णितिओ जातो। सेसा साधु विहरिता।

सो वि अणालोइयपडिककंतो विराहियसामणे वंतरो णिद्धमणा जवखो जातो।

तेण य पदेसेण जदा साहू णिगगमण-पवेसं करेति, ताहे सो जवखो पडिम अणुपविसिता महापमाणं जीहं णिललालेति।

साहूहि पुच्छतो भणति - अहं सायासोक्खणडिबद्धो जीहादोसेण अप्पिङ्गिओ इह णिद्धमणओ भोमेज्जे णगरे वंतरो जातो, तुज्ज पडिक्कोहणात्यमिहागतो तं मा तुझे इवं काहिह।

अणो कहेति-जदा साहू भुजंति तदा सो महापमाणं हत्यं सख्तालंकारं विडिव्विऊण गवक्खदारेण साधूण पुरतों पसारेति।

साहूहि पुच्छतो भणति-सो हं अज्जमंगु इडिरसपमादगहओ मरिऊण णिद्धमणे जवखो जातो, तं मा कोइ तुझे एवं लोभदोसं करेज्ज। ॥३२००॥

एवं कसायदोसे णाडं पञ्जोसवणासु अप्पणो परस्स वा सब्बकसायण उवसमणं कायब्बं।

— निं आ० चू० ।

कथा-सारांश^{१०}

बहुश्रुत आगमों के अध्येता, बहुशिष्य परिवार वाले, उद्घत बिहारी आचार्य आर्यमङ्गु विहार करते हुए मथुरा नगरी गये। वसादि से श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा की गई। क्षीर, दधि, घृत, गुड़ आदि द्वारा उन्हें प्रतिदिन यथेच्छ प्रतिलाभना प्राप्त होती थी। साता सुख से प्रतिबद्ध हो विहार नहीं करने से उनकी निन्दा होने लगी। शेष साधु विहार किये। मङ्गु आलोचना और प्रतिक्रमण न कर श्रामण्य की विराघना करते हुए मरकर अधर्मी व्यन्तर यक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। उस क्षेत्र से जब साधु निकलते और प्रवेश करते थे तब वह यक्ष, यक्षप्रतिमा में प्रवेशकर दीर्घ आकार वाली जिह्वा निकलता। श्रमणों द्वारा पूछने पर कहता— मैं साता सुख से प्रतिबद्ध जिह्वा-दोष के कारण अल्प ऋद्धि वाला होकर इस नगर में व्यन्तर उत्पन्न हुआ हूँ। तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिए यहाँ आया हूँ। मेरे जैग यह कहा। तुम लोग इस लोग जो हस्तकार भी कहते हैं— जब श्रमण आहार लेते थे तब वह समस्त अलङ्कारों से विभूषित हो दीर्घ आकार वाला हाथ गवाक्ष द्वारा से साधुओं के आगे फैलाता।

साधुओं द्वारा पूछने पर कहता— यह मैं आर्यमङ्गु ऋद्धि और जिह्वा-लोभ से अत्यधिक प्रमाद वाला होकर मरणोपरान्त लोभ-दोष से अधर्मी यक्ष हुआ हूँ। इसलिए तुम लोग इसप्रकार लोभ मत करना।

सन्दर्भ

१. समराइच्चकहा, पूवार्द्ध (प्राकृत) आचार्य हरिभद्र, हि०अनु० डॉ०रमेशचन्द्र जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदिवी जैन ग्रन्थमाला, प्रा०ग्र० २, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९९३, पृ० ४।
२. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति (मूल), सं० विजयामृतसूरि, 'निर्युक्तिसंग्रह' हर्षपुष्पमृत जैन ग्रन्थमाला १८९, लाखाबाबल १९८९, माथा १०-११०, पृ० ४८५-८६।
३. निशीथभाष्य चूर्णि, भाग ३, सं० आचार्य अमरमुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह(ग्र०स०५), पृ० १३९-१५५।
४. दशाश्रुतस्कन्धमूलनिर्युक्तिचूर्णि: — पणिविजयगणि ग्रन्थमाला सं० १४, भावनगर १९५४, पृ० ६०-६२।

५. शृङ्खल्यमाण्य, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३३-४२।
६. आवश्यकचूर्णि, दोखण्ड, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम १९२८-२९।
७. द०नि०, लाखाबाबल, पृ० ४८५।
८. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६० एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १३९।
९. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ४८५।
१०. द०चू०, पूर्वोत्त पृ० ६०, एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त पृ० १३९-१४७।
११. द०नि०, पूर्वोत्त, पृ० ४८५।
१२. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६१ एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १४७-१४८।
१३. द०नि०, पूर्वोत्त, पृ० ४८५।
१४. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६१, एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १४९-१५०।
१५. द०नि०, पूर्वोत्त, पृ० ४८६।
१६. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६१, एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १५०-१५१।
१७. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ४८६।
१८. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६२ एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १५१-१५२।
१९. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ४८६।
२०. द०चू०, पूर्वोत्त, पृ० ६२, एवं नि०भा०चू०, पूर्वोत्त, पृ० १५२-१५३।



उपसंहार

‘छिद्र’ धातु से काटने या खेदन अर्थ में घब्ब पूर्वक निष्पत्र ‘छेद’ शब्द जैन परम्परा में प्रायश्चित्त विशेष के अभिप्राय में ग्रहण किया गया है। छेद प्रायश्चित्त के भागी श्रमण की दीक्षा के काल में दण्ड के अनुसार उच्छेद कर दिया जाता है। जैन परम्परा आचार के सम्यक् पालन पर अतिशय बल देती है। आचार की दृष्टि से क्या करणीय है और क्या नहीं, इस विधि-निषेध पक्ष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शान के लिए जिन जैनागम ग्रन्थों में इस विषय की विशेष प्ररूपणा की गई है उनकी छेदसूत्र संशा दी गई है। इनमें प्रायश्चित्त का भी विधान है।

को अनु

प्रायश्चित्त विधि का निरूपण करने के कारण छेदसूत्र (उत्तम) कहा गया है—
छेदसूत्रमुत्तमसुयं। ‘इसकी उत्तमता का कारण अवधारभाव्य में निरूपित है—
‘चारिं में स्खलना होने पर या दोष लगने पर छेदसूत्रों के आधार पर विशुद्धि होती है। अतः पूर्वगत अर्थ को छोड़कर अर्थ की दृष्टि से अन्य आगमों की अपेक्षा छेदसूत्र बलवत्त है। (गाथा १८२९, लाइन १९९६)। गणधिपति तुलसी ने ‘छेदसूत्र’ का संस्कृत ‘छेक सूत्र’ मानकर इसका कल्याणश्रुत या उत्तमश्रुत अर्थ माना है। (अ० भा०, भूमिका, लाइन)

इनकी संख्या और इस वर्ग में समाविष्ट ग्रन्थों के विषय में यद्यपि मतभेद रहा है परन्तु वर्तमान में छेदसूत्र में— दशाशुतस्कन्ध, कर्त्त्व, अवधार, निशीथ, महानिशीथ और जीतकरुण— ये छेदसूत्र समाविष्ट हैं। इनमें भी दशाशुतस्कन्ध को मुख्य ग्रन्थ माना गया है— इस पुण छेदसूत्रमुहूर्त (द० शु० चू०, पृ० ३-४)

यह सर्वभान्य है कि अधिकांश छेदसूत्र पूर्वों से निर्यूढ हैं। श्रुतकेषली भद्रबाहु ने इसे नवम पूर्व प्रत्याख्यान की तृतीय आचार वस्तु से निर्यूहित किया है। (आचा०नि० २१९, अ० भा०, ३१७३)। निर्यूहण का कारण बताते हुए कहा गया है कि नवम पूर्व सागर की भाँति विशाल है, उसकी सतत स्मृति में बार-बार परावर्तन की अपेक्षा रहती है, अन्यथा वह विस्मृत हो जाता है (अ० भा०, ७३७)। भद्रबाहु ने आयु-बल, धारणाबल, आदि की क्षीणता देखकर दशा, कर्त्त्व एवं अवधार का निर्यूहण किया किन्तु आहार, उपचि, कीर्ति या प्रशंसा आदि के लिए नहीं। (द० शु० चू०, पृ० ३)।

दस दशाओं में विभक्त होने के कारण 'आचारदसा' के नाम से भी प्रसिद्ध इस ग्रन्थ का परिमाण १२५६ ग्रन्थांग है। यह मुख्यतया गद्य में निबद्ध है। वर्तमान कल्पसूत्र इसकी आठवीं दशा का अंश रहा है, ऐसी मान्यता है।

इस छेदसूत्र के दशाओं को विषय-वस्तु परस्पर सम्बद्ध है और दसाओं का क्रम भी तार्किक ढंग से योजित है। विद्वान् प्रथम दशा के 'असमाधि' नामकरण का कारण यह मानते हैं कि शीर्षक के निषेधात्मक 'अ' को हटा देने से (समाधि) का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह शीर्षक एक साथ समाधि और असमाधि दोनों का बोध कराता है।

आगमों में उत्तम छेदसूत्र और छेदसूत्रों में प्रमुख दशाशुतस्कन्यसूत्र पर निर्युक्ति की रचना स्वाभाविक ही थी। आज उपलब्ध निर्युक्तियों में इसका परिमाण लघुतम है। इसका वर्गीकरण 'दशा' में न हाकेर 'अध्ययन' में है। अष्टम दशा (कल्पसूत्र) की निर्युक्ति भी इसमें विद्यमान है। प्रस्तुत निर्युक्ति में आठवीं दशा पर निर्युक्ति की गयी है। प्रो० सागरमल जैन ने व्यक्तिगत वार्तालाप में भत व्यक्त किया कि दशाशुतस्कन्य से आठवीं दशा को बलभी के राजा ध्रुवसेन के समय पृथक् कर और उसमें जिनचरित्र और स्थविरावली को जोड़कर कल्पसूत्र का वर्तमान स्वरूप प्रदान किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि आठवीं दशा के निकालने के पूर्व निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी। आठवीं दशा की निर्युक्ति में जिनचरित्र और स्थविरावली का उल्लेख नहीं होने से भी यह स्पष्ट होता है। इसकी गाथा सं० १५४, १४४, १४१ और ९९ उल्लिखित है परन्तु वास्तविक गाथा संख्या १४१ ही है शेष उल्लेख पूरी तरह निराधार एवं भ्रामक है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई०पूर्व ३-४ शताब्दी), शिवभूति शिष्य काश्यफगोत्रीय, आर्यभद्रगुप्त, आर्यविष्णु के प्रशिष्य आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र और भद्रबाहु 'द्वितीय' या 'नैमित्तिक, निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् एम० बिण्टरनित्स और कार्पाडिया, प्रथम भद्रबाहु को तथा ल्यूमान, मुनि पुण्यविजय, आचार्य हस्तीमल जी नैमित्तिक भद्रबाहु को, तो प्रो० सागरमल जैन ने गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तिकार के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में तर्क दिया है। समणी कुसुमप्रशा की यान्यता है कि निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु 'प्रथम' थे परन्तु द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों में परिवर्धन किया। अपनी इस मान्यता के पक्ष में उन्होंने प्रमाण दिया है कि दशावैकालिक, आवश्यक आदि की निर्युक्तियों में चूर्णि एवं टीका की गाथा संख्या में काफी अन्तर है। (अ० आ०, भूमिका, पृ० ३८)।

द०नि० के आठवें अध्ययन की ६७ गाथाओं के स्थान पर नि०भाष्य में ७२ गाथाओं का 'इमाणिज्जुती' कहकर 'उद्धरण के रूप में प्राप्त होना तथा इन पाँच अतिरिक्त गाथाओं की चूर्णि, दशा० चूर्णि और नि०चू० में यथोचित स्थान पर मिलना बहुत महत्वपूर्ण है। यही नहीं इन अतिरिक्त गाथाओं की विषय प्रतिपादन की दृष्टि से साकाहूता गई है।

इससे यह सम्भावना बनती है कि भाष्यकार (निशीथ) तथा उक्त चूर्णिकारों के समय में इस अध्ययन में ७२ गाथायें रही होंगी। द०नि० में एक ही गाथा दो स्थलों पर और वह भी अनवरत क्रम से (क्रमांक ३२ और ३३ पर) उपलब्ध हैं जो बहुत ही असङ्गत प्रतीत होता है। इससे यह सम्भावना बनती है कि इस निर्युक्ति कुछ गाथायें कालान्तर में हटाई गई हैं।

द०नि० की अधिकांश गाथाओं में संस्कृत मात्रिक छन्द आर्या का प्राकृत रूप 'गाथा सामान्य' प्रयुक्त हुआ है। इसमें चारों चरणों की मात्राओं का योग ५७ होता है। अपवाद स्वरूप में कुछ गाथायें गाहु (५४ मात्रा) उदगाथा (६० मात्रा) और गाहिनी (६२ मात्रा) में निबद्ध हैं।

छन्द की दृष्टि से गाथाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि १४१ में से ४७ गाथायें ही यथास्थिति में शुद्ध हैं और २९ गाथाओं में कवि-समय या परम्परा के अनुसार गुरु का ह्रस्व और ह्रस्व की गुरु गणना करने से गाथा लक्षण घटित हो जाता है। इस प्रकार ७६ गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं।

अशुद्ध ६५ गाथाओं में से कुछ गाथायें प्राकृत भाषा शब्द-धातु रूपों के नियमानुसार अनुस्वार का हास अथवा वृद्धि कर देने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती हैं तो कुछ में शब्द-धातु रूपों के नियमों के ही परिषेष्य में स्वर को ह्रस्व या दीर्घ कर देने पर वे शुद्ध हो जाती हैं। दशाशुद्धस्कन्ध की कतिपय गाथाओं को छन्द की दृष्टि से शुद्ध करने के लिए पादपूरक निपातों का समावेश करना अपेक्षित है।

निर्वक गाथाओं की अन्यत्र प्राप्त समान्तर गाथाओं का त्रुतनात्मक अध्ययन करने से जो तथ्य हमारे सामने आते हैं उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि पाठभेद मात्र छन्द-दोष की ही सूचक नहीं है। रचनाकर द्वारा अलग-आग छन्द में भी रखना करने के कारण पाठ भेद दृष्टिगोचर होता है साथ ही कुछ गाथाओं के पाठान्तरों में ग्रन्थकारों द्वारा किसी-किसी गाथा में एक या दो भिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये हैं परन्तु परिवर्तित शब्दों द। मात्रा ११ इस प्रकार है। छन्द परिवर्तित नहीं होता है। किसी-किसी गाथा का पाठान्तर अर्थात् भी सहायक सिद्ध होता है।

इसप्रकार पाठान्तरों के आलोक में प्राचीन ग्रन्थों का छन्द की दृष्टि से अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

यद्यपि निर्युक्ति-संरचना या इसके घटकों को समग्र रूप से अधिव्यक्त करने वाला उल्लेख अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। फिर भी निषेप, एकार्थ, निरुक्त एवं दृष्टान्तकथायें तथा सूत्र ग्रन्थ के कुछ चुने विषयों का प्रतिपादन निर्युक्ति के प्रमुख घटक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इनमें निषेप प्रमुख घटक है। निर्युक्तिकार पहले सूत्र ग्रन्थ के शीर्षक का, तत्प्राप्तात् उसके प्रत्येक अध्ययन के शीर्षक का निषेप करता है। यदि किसी शब्द का पूर्व (निर्युक्तियों में) निषेप हो चुका है तो उसका निर्देश प्रायः 'मुख्यदण्ड' कहकर कर दिया जाता है। शीर्षक में प्राप्त शब्दों के अतिरिक्त निर्युक्ति में सूत्र ग्रन्थ के कुछ अन्य महत्वपूर्ण शब्दों का भी निषेप प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि अनिवार्य रूप से सभी अध्ययनों के शीर्षक शब्दों निषेप नहीं हुआ है। उदाहरण स्वरूप दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के दूसरे अध्ययन शीर्षक 'शब्दल' का निषेप नहीं हुआ है। यह भी देखने में आया है कि शीर्षक शब्द का निषेप न कर उसके किसी पर्यायवाची का निषेप कर दिया गया है, जैसे अष्टम पर्युषणा अध्ययन के पर्युषणा शब्द का निषेप न कर इसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कर पर्यायवाची स्थापना का निषेप किया गया है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में सूत्र के शीर्षक शब्दों के अतिरिक्त गण, उपग्रह, सङ्ग्रह, परिज्ञा और बन्ध का निषेप किया गया है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में प्राप्त एकार्थक शब्दों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि एकार्थक के रूप में कुछ ऐसे भी शब्द ग्रहण किये गये हैं जो शब्दकोशों के अनुसार सीधे पर्यायवाची नहीं हैं।

निर्युक्ति में प्राप्त कथा-सङ्केत धर्मकथाओं के तत्कालीन स्वरूप और उनके परवर्ती विवरण का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायक है।



श्रीदशाश्रुतस्कन्थनिर्युक्तिः

।।१।। प्रथमासमाधिस्थानाद्यवननिर्युक्तिः ॥

बन्दामि भद्रबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं ।
 सुत्तस्म कारगमिसिं दसासु कप्ये च व्यवहारे ॥१॥
 आउ विवागजडयणाणिं भावओ दच्छओ उ व्यदसा ।
 दसआओ विवागदसा वाससव्याओ दसहच्छेत्ता ॥२॥
 बाला मन्दा किड्डा खला य पण्णा य हायणिपवंचा ।
 यद्यारमुम्मुही सयणी नामेहि य लक्षणेहिं दसा ॥३॥

बन्दे भद्रबाहुं प्राचीनं चरमसकलश्रुतज्ञानिनम् ।
 सूत्रस्य कारकं श्वर्षिं दशासु कल्पे च व्यवहारे ॥१॥
 आयुर्धिणकाद्यवनानि भावतो द्रव्यतो तु व्यस्तदशा ।
 दशः विपाकदशः वर्षशतानि दशधा छिस्ता ॥२॥
 बाला मन्दा क्रीडा खला च प्रज्ञा च हायनी प्रपञ्चा ।
 प्राणभारमुन्मुखी शायनी (स्वापनी) नामभिञ्च लक्षणौदश ॥३॥

(हिन्दी अनुवाद)

मै सम्पूर्ण श्रुतों (चौदह पूर्वों सहित समस्त आगमों) के अन्तिम ज्ञाता, आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्थ), कल्प और व्यवहारसूत्र के कर्ता प्राचीनगोत्रीय शृष्टि भद्रबाहु को बन्दन करता हूँ ॥१॥

भाव (निष्क्रेप की अपेक्षा) से दशा का आयुविपाक—जीवन की विविध अवस्थाये और अध्ययन—शास्त्र के विभाग, द्रव्य की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ (अर्थ है)। आयु-विपाक की दृष्टि से सौ वर्ष की आयु को दस से विभक्त कर (स्व-स्व) लक्षणों के आधार पर नामयुक्त दस अवस्थायें होती हैं— बाला, मन्दा, क्रीडा, खला, प्रज्ञा, हायनी, प्रपञ्चा, प्राणभारा, मुन्मुखी और शायनी (स्वापनी) ॥२-३॥

संशोधन
की

दसआओ विवागदसा नामेहि य लक्खणेहि एहिति।
 एत्तो अज्ञायणदसा अहक्रमं कित्तड्ससामि ॥४॥
 डहरीओ उ इमाओ अज्ञायणेसु महईओ अंगेसु।
 छसु नायादीएसु बत्थविभूसावसाणमिव ॥५॥
 डहरीओ उ इमाओ निज्जूङ्गाओ अणुगगहट्टाए।
 थेरेहि तु दसाओ जो दसा जाणओ जीबो ॥६॥
 असमाहि य सबलत्तं अणसादणगणिगुणा मणसमाही।
 सावगभिक्खूपडिमा कण्ठे मोहो नियाणं च ॥७॥

दशा विपाकदशाः नामभिश्च लक्षणौरस्मिन्निति ।
 इत अध्ययनदशाः यथाक्रमं कीर्तयिष्यामि ॥४॥
 लच्छ्वस्तु इमा अध्ययनेषु महत्योऽङ्गेषु ।
 षद्सु ज्ञातादिषु बत्थविभूसावसानमिव ॥५॥
 लच्छ्वस्तु इमाः निर्वृद्धा अनुग्रहार्थाय ।
 स्थविरेष्टु दशाः या दशा ज्ञायको जीवः ॥६॥
 असमाधिश्च शबलत्वमाशातनागणिगुणाः ।
 मनःसमाधिः आवकभिक्खुप्रतिमा; कल्पो मोहो निदानं च ॥७॥

(अन्वयित्वा)

इसप्रकार आयुविपाक की अपेक्षा से नाम और लक्षणों के आधार पर इसमें (ऐहिक) जीवन की दस अवस्थायें कही गयी हैं। आगे अध्ययन दशाओं अर्थात् दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों का यथाक्रम कथन करुँगा। ॥४॥

(श्रमणाचार और आवकाचार का) संक्षेप में वर्णन, दशाश्रुतस्कन्ध की दस दशाओं में और विस्तार से अङ्गों के अध्ययनों में है। ज्ञातादि छः अङ्गों में वस्त्र-वेश का विवरण समाहित है। ॥५॥

स्थविरों ने ज्ञानाभिलाषी जीवों के अनुग्रहार्थ (आचार सम्बन्धी) इन दस अध्ययनों को (पूर्व साहित्य से) संक्षेप में उद्धृत किया है— असमाधि (स्थान, शबलदोष, आशातना, गणिगुण, मनःसमाधि, आवक-प्रतिमा, भिक्खु-प्रतिमा, कल्प, मोह और निदान) ॥६-७॥

दसाणं पिंडत्थो एसो मे वर्णिष्ठो समासेण ।
 एतो एककेककंपि च अज्ज्ञयणं किलइस्सामि ॥८॥
 द्रव्यं जेण व द्रव्येण समाही आहियं च जं दव्यं ।
 भावो सुसमाहितया जीवस्य पसत्थजोगेहि ॥९॥
 नामं ठवणा दविए खेतद्वा उडु ओवरई वसही ।
 संज्ञमपगगहजोहे अचलगणणसंवणाभावे ॥१०॥
 बीसं तु णवरि णोम्मं अड्डेगाङ्गं तु तेहि सरिसाङ्गं ।
 नायव्या एएसु च अन्नेसु च एवमार्द्दिसु ॥११॥
 ॥ असमाहिद्वाणनिज्जुत्ति समता ॥१२॥

दशानां पिण्डार्थं एव मया वर्णितः समासेन ।
 इत एकैकमपि च अध्ययनं कीर्तयिष्यामि ॥८॥
 द्रव्यं येन वा द्रव्येण समाधिरात्रुतं च यद्द्रव्यम् ।
 भावो सुसमाधितया जीवस्य प्रशस्तयोगैः ॥९॥
 नामस्थापनाद्रव्याणि क्षेत्रकालावृथ्यमुपरतिर्वसतिः ।
 संयमः प्रगहो योष्मयचलं गणना सन्धानं भावः ॥१०॥
 विंशतिस्तु केवलं नेमानि अतिरिक्तानि तु तैः सदृशानि ।
 ज्ञातव्यानि एतेषु चान्येषु चैवमादिषु ॥११॥

मेरे द्वारा आचारदशा का दस अध्ययन समूह संक्षेप में वर्णित किया गया। आगे एक-एक अध्ययन का कथन करूँगा ॥८॥

द्रव्य निष्केष की अपेक्षा से जिस द्रव्य से अथवा जिस द्रव्य का आलम्बन कर समाधि प्राप्त होती है, वह द्रव्य समाधि है, भाव निष्केष की अपेक्षा से जीव के प्रशस्त योग द्वारा जो सुसमाहित (चित्तवृत्ति की प्रशान्ति) अवस्था प्राप्त होती है वह भाव समाधि है ॥९॥

(समाधि के १४ स्थान—) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, ऊर्ध्वल, उपरति (विरामस्थान), वसति (उपाश्रय), संयमस्थान, प्रप्रह (नियन्त्रक स्थान), योष्म (आसनविशेष), अचलत्व (स्थिरता), गणना (संख्या) और निरन्तरता ॥१०॥

असमाधि के बीस स्थान साङ्केतिक हैं, ये एवं इन के सदृश अन्य भी (बीस से) अधिक हो सकते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥११॥

॥२॥ द्वितीयसबलाध्ययननिर्युक्तिः ॥

द्रव्ये चित्तलगोणाइएमु भावसबलो खुतायारो ।
 वतिककम् अड़ककमे अतिथारे भावसबलोड ॥१२॥
 अवराहम्मि य पमणुए जेणउ मूलं न वच्चए साहु ।
 सबलेई तं चरित्तं तम्हा सबलत्तणं छिंत्ति ॥१३॥
 वालेराई दाली खुंडो बोडे खुत्ते य भिन्ने य ।
 कम्पासपडु सबले सब्बाखि विराहणा भणिआ ॥१४॥
 ॥ सबलनिज्जुती समत्ता ॥ २ ॥

द्रव्ये चित्रलगधादिरेषु भावशबलः क्षुद्राचारः ।
 व्यतिक्रमेऽतिक्रमेऽतिथारे भावशबलस्तु ॥१२॥
 अपराधे च प्रतनुर्येत् तु मूलं न ब्रजेत् साधोः ।
 शबलति तच्चरित्रं तस्मात् शबलत्वं बदन्ति ॥१३॥
 बालो राजिः दारी खण्डो घग्नो छिद्रक्ष भिन्नक्षु ।
 कर्पासपटः शबलः सर्वाऽपि विराधनाः भणिताः ॥१४॥

वितकबरे बैलादि द्रव्य (शबल कहे जाते हैं जबकि) दूषित चरित्र वाले भाव शबल (कहे जाते हैं)। व्यतिक्रम—नियमविरुद्ध आचरण, अतिक्रम—नियम का उल्लङ्घन, और अतिथार—नियम का आंशिक भ्रष्ट — ये भावशबल हैं ॥१२॥

सूक्ष्म अपराध (दुर्भाषितादि) जिससे श्रमण का मूल न जाय, वह (अपराध) चारित्र को दूषित करता है, इस कारण उसे शबलता का विस्तार करने वाला कहते हैं ॥१३॥

(जिसप्रकार कोई घड़ा भले ही उसमें) बाल के बराबर दृग्गर हो अथवा राई अथवा दाल के बराबर छिद्र हो अथवा खण्डित हो या थोड़ा या अधिक दूटा हुआ हो वह दूटा ही कहा जाता है, जिसप्रकार थेत सूती वस्त्र (पर छोटा या बड़ा दाग या धब्बा हो वह वस्त्र मत्तिन ही कहा जायगा, उसी प्रकार किसी चारित्र में छोटी या बड़ी) सभी विराधनायें शबल दोषयुक्त ही कही जायेगी ॥१४॥

॥३॥ तृतीयाशातनाष्ट्यननिर्युक्तिः ॥

आसायणाओ दुविहा मिच्छा पडिवज्जणा च लाभे अ ।
 लाभे छक्कं तं पुणं इट्टपणिठुं दुहेक्केक्कं ॥१५॥
 साहु तेणो ओगगाह कंतारविआल विसममुहवाही ।
 जे लद्धा ते ताणं भणाति आसायणा ड जगे ॥१६॥
 दब्बं माणुम्पाणं हीणाहिअं जंमि खेत्ते जं कालं ।
 एवेव छविहंभि भावे पगयं तु भावेण ॥१७॥

आशातनास्तु द्विविधः मिथ्याप्रतिपादना च लाभक्षा ।
 लाभः घट्कः सः पुनरिष्टपनिष्ट द्विधैक्कम् ॥१५॥
 साधोः स्तेनावग्रहकान्तारविकाल विषममुखोपाधिः ।
 ये सञ्चास्ते तेषां कथयन्ति आशातनास्तु जगति ॥१६॥
 द्रव्यं मानोन्यानं हीनाधिकं यस्मिन् क्षेत्रे यत्कालम् ।
 एवमेव घट्कविधो भावः प्रकृतं तु भावेन ॥१७॥

आशातनायें दो प्रकार (की होती हैं) — मिथ्या प्रतिपादन आशातना और लाभ आशातना। लाभ आशातनायें (नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से) छः प्रकार की होती हैं, पुनः ये आशातनायें इष्ट और अनिष्ट दो प्रकार की होती हैं ॥१५॥

संसार में (चोरों द्वारा हरण की गई साधु की उपाधियों का पुनः) ग्रहण (अनिष्ट) और शुद्ध उपाधि का ग्रहण इष्ट द्रव्याशातना है, क्षेत्र दृष्टि से (सचिंतादि का) अरण्य (आदि) में प्राप्ति अनिष्ट और आम आदि में प्राप्ति इष्ट क्षेत्राशातना है काल की दृष्टि से विकाल (दुर्भिक्ष) में प्राप्ति अनिष्ट और सुभिक्ष में प्राप्ति इष्ट आशातना है ॥१६॥

(मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना इष्ट और अनिष्ट दो प्रकार की इस रूप में भी होती है—) (सम्यक्) या न्यूनाधिक परिमाण में गृहीत और प्रदत्त द्रव्य की दृष्टि से जिस क्षेत्र और जिस काल में (साधु को प्राप्त हो)। भाव दृष्टि से मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना के छः प्रकार होते हैं ॥१७॥

छटुट्टमपुर्वेसुं आउवसग्गोत्ति सब्जुत्तिकओ ।
 पयअत्यविसोहिकरो दिन्तो आसायणा तम्हा ॥१८॥
 मिच्छा पडिवत्तीए जे भावा जत्थ होति सब्जूआ ।
 तेसिं तु वितह पडिवज्जणाए आसायणा तम्हा ॥१९॥
 न करेइ दुकखमोक्खं उज्जमभाणोवि संजमतवेसुं ।
 तम्हा अनुकरिसो वज्जेअव्वो पयत्तेण ॥२०॥
 जाणि भणिआणि सुत्ते ताणि जो कुण्ड अकारणज्जाए ।
 सो खलु भारिवकम्भो न गणेइ गुरुं गुरुद्वाणे ॥२१॥

षष्ठाष्टमपूर्वेषु आङ्ग-उपसर्ग इति सर्वयुक्तिकृतः ।
 पदार्थविशोधिकरः ददद आशातना तस्मात् ॥१८॥
 मिथ्या ग्रतिपत्त्यः हे धाका राज शक्तिं सद्भूताः ।
 तेषां तु वितथ प्रतिपादनया आशातना तस्मात् ॥१९॥
 न करोति दुःखमोक्षं मुद्दमपानोऽपि संयमतपस्सु ।
 तस्मात् आत्मोक्षो वर्जयितव्यः प्रयत्नेन ॥२०॥
 यग्नि भणितानि सूत्रे तानि यः करोति अकारणतया ।
 स खलु भारितकर्मा न गणयति गुरुं गुरुस्थाने ॥२१॥

षष्ठ पूर्व (सत्यप्रवाद के अक्षर प्राभृत) में, अष्टमपूर्व (कर्मप्रवाद के अष्टम महानिमित्त के स्वर-चिन्ता में) उपसर्ग वर्णित है। यह (उपसर्ग) सभी योगों और पदार्थ को विशेषित दोष से युक्त करने वाला है, उससे अकस्मात् आशातना होती है ॥१८॥

जो भाव (तथ्य) जिस रूप में विद्यमान होते हैं उनके विषय में असत्य कथन करने से मिथ्याप्रतिपादन आशातना होती है ॥१९॥

तप और संयम में प्रयत्नशील साधकों के विषय में भी दुःखविमुक्ति के लिए (प्रयत्न) नहीं कर रहा है, (इस कथन द्वारा) अपनी श्रेष्ठता का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥२०॥

जो (गुरु-आशातनाये) सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध) में उपदिष्ट हैं, उनका जो कारण के बिना (भय की स्थिति या ज़म्मल आदि के अतिरिक्त) आचरण करता है, जो गुरु और

दंसणनाणाणचरित्तं ततो य विणओ अ हुंति गुरुमूले ।
 विणओ गुरुमूलेति अ गुरुणं आसायणा तम्हा ॥२२॥
 जाइं भणिआइं सुन्ते ताइं जो कुणइ कारणज्जाए ।
 सो न हु भारियकर्मो नु गणोइ गुरु गुरुद्वाणी ॥२३॥
 सो गुरुमासायंतो दंसणनाणाणधरणेषु स्वयमेव ।
 सीयति कत्तो आराहणा से तो ताणि वज्जेज्जा ॥२४॥
 ।। आसायणनिज्जुती सम्पत्ता ।।३।।

दर्शनज्ञानचारित्रं तपश्च विनयश्च भवन्ति गुरुमूले ।
 विनयः गुरुमूलभिति च गुरुणामाशातना तस्मात् ॥२२॥
 वानि भणितानि सूत्रे तानि यः करोति कारणतया ।
 स न खलु भारितकर्म गणयति गुरुं गुरुस्थाने ॥२३॥
 सो गुरुमाशातयन् दर्शनज्ञानधरणेषु स्वयमेव ।
 सीदति कुतः आराधना स तदा तानि वर्जयेत् ॥२४॥

गुरुस्थान के प्रति (अभ्युत्थान, पादप्रमार्जन, आहार आदि) नहीं करता वह भारितकर्म जीव है ॥२१॥

गुरु के चरणों (साक्रिध्य) में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय उत्पन्न होते हैं। गुरु का मूल विनय है, अतः उस (गुरु के प्रति विनय भाव दर्शित न करने से) गुरु की आशातना होती है ॥२२॥

जो गुरु को गुरुस्थान पर मानता है, (गुरु आदि के प्रति) जो आशातनाये सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध) में कही गई है उनका सकारण ही आचरण करता है, वह जीव भारितकर्मी नहीं होता है ॥२३॥

गुरु की आशातना करने वाले का दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वयं ही शिथिल हो जाता है, उसकी आराधना कैसे हो सकती है, अतः उनका गुरु की आशातनाओं का स्थान करना चाहिए ॥२४॥

।।४।। चतुर्थगणिसम्पदाध्ययननिर्युक्तिः ॥

द्व्यव्यसरीरभविओ भावगणी गुणसमन्विओ द्विविहो।
 गणसंगहुवग्नहकारओ अ धर्मं च जाणसो ॥२५॥
 नार्यं गणिअं गुणिअं गचं च एगदुएवमाईअं।
 नाणी गणिति तम्हा धर्मस्स विआणओ भणिओ ॥२६॥
 आदारंमि अहीए जं नाओ होइ समणधर्मो उ।
 तम्हा आचारधरो भणणइ पलुमं गणिद्वाणं ॥२७॥
 गणसंगहुवग्नहकारओ गणी जो पहु गर्णं धरितं।
 तेण णओ छक्कं संपदाए पगर्यं चउसु तत्थ ॥२८॥

द्रव्यशरीरभविकः भावगणिः गुणसमन्वितः द्विविधः ।
 गणसङ्ग्रहोपग्रहकारकश्च धर्मं च जानन् ॥२५॥
 ज्ञातं गणितं गुणितं गतं च एकार्थमेवमादिकम् ।
 ज्ञानीन गणिति तस्मात् धर्मस्य विज्ञायको भणितः ॥२६॥
 आचारे अव्याप्ते यत् ज्ञातः भवति अमणधर्मस्तु ।
 तस्मात् आचारधरो भणयते प्रथमं गणिस्थानम् ॥२७॥
 गणसङ्ग्रहोपग्रहकारकः गणिः यस्त्रभुः गर्ण धारितुम् ।
 तेन नयः षट्कं सम्पदः प्रकृतं अतसुषु तत्र ॥२८॥

गणि दो प्रकार का होता है— गणि का सांसारिक शरीर (द्रव्यगणि और गणि के आचार सम्पदा आदि आठ) गुणों से युक्त भावगणि। गणि धर्म (आचार नियमो) का ज्ञाता और गण का सहग्रह और उपकार करने वाला गणि होता है। ॥२५॥

ज्ञात (विदित), गणित (गिना हुआ), गुणित (मनन किया हुआ), गत (जाना हुआ) आदि एकार्थक हैं। धर्म अर्थात् आचार-व्यवस्था का ज्ञाता होने से इसे ज्ञानी, गणि आदि कहा गया है। ॥२६॥

आचार (अङ्ग) का अध्ययन करने पर ही श्रमण धर्म ज्ञात होता है इसलिए आचारधर (आचाराङ्ग का ज्ञाता) ही प्रथम गणिस्थान या गुण कहा जाता है। ॥२७॥

जो गण का सहग्रह और उपकार करने और गण को धारण करने में समर्थ है वही गणि है। प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन में गणिसम्पदा का छः अपेक्षाओं से वर्णन किया गया है। ॥२८॥

द्रव्ये भावे य सरीरसंयथा छविष्टा य भावंमि ।
 द्रव्ये खेते काले भावमि य संग्रहपरिणा ॥२९॥
 जह गयकुलभूओ गिरिकंदरकडगविसमदुर्गेसु ।
 परिवहइ अपरितंतो निअवसरीरुग्मए दंते ॥३०॥
 तह प्रवयणभत्तिगओ साहमियवच्छलो असढभावो ।
 परिवहइ असहुवग्नं खेतविसमकालदुर्गेसु ॥३१॥
 ॥गणिणिज्जुती सप्तता ॥४॥

॥५॥ पञ्चम श्रेण्यध्ययननिर्युक्तिः ॥

द्रव्य तदद्वोवासकमोहे भावे उवासका अठरो ।
 द्रव्यसरीरभविओ तदद्विओ उवणाईसु ॥३२॥

द्रव्ये भावे य शरीरसम्पद् यद्विधा य भवो ।
 द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च संग्रहपरिज्ञा ॥२९॥
 यथा गजकुलभूतः गिरिकन्दरकटकविषमदुर्गेषु ।
 परिवहति अपरितान्तः निजकशरीरोदृगती दन्ती ॥३०॥
 तथा प्रवयनभत्तिगतः साधर्मिकवत्सलः अशाठभावः ।
 परिवहति असहवर्गं क्षेत्रविषमकालदुर्गेषु ॥३१॥
 द्रव्यतदर्थोपासको मोहो भावो उपासकाः अत्यारः ।
 द्रव्यशरीरभव्यः तदर्थिकः ओदनादिषु ॥३२॥

शरीर सम्पदा दो प्रकार की होती है— द्रव्य और भाव। भाव दृष्टि से (शरीर सम्पदा) छः प्रकार की होती है। संग्रहपरिज्ञा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव दृष्टि से (चार प्रकार की होती है) ॥२९॥

जिस प्रकार गजबंश में उत्पन्न, पर्वत, कन्दरा, पर्वतखण्ड और विषम स्थानों पर बिना खिन्न हुए अपने शरीर पर उगे हुए दौतों को बहन करता है उसी प्रकार प्रवचन अर्थात् जिनप्रणीत सिद्धान्त के प्रति भक्ति से युक्त, साधर्मिकवत्सल तथा असमर्थ जनों को विषमक्षेत्र और दुष्काल में सरलतापूर्वक बहन (सहायता आदि प्रदान) करता है ॥३०-३१॥

॥६॥ द्रव्योपासकप्रतिभाष्ययननिर्दुक्ति: ॥

द्रव्यतदद्वूषा जा स यज्ञोहे भवेये उपासका व्यडते ।
 दब्बे सरीरभवितं तदद्विओ ओयणाईसु ॥३३॥
 कुप्पबवयणं कुधम्मं उवासए मोहुवासको सोउ ।
 हंदि तहिं सो सेयं ति मण्णती सेयं नत्थि तहिं ॥३४॥
 भावे उ सम्महिद्वी असमणो जं उवासए समणे ।
 तेण सो गोणणं नाम उवासगो सावगो वेत्ति ॥३५॥
 कामं दुवालसंगं पवयणमणगारगारधम्मो अ ।
 ते केवलीहिं पसूआ पउवसगगो पसूअंति ॥३६॥

कुप्रवचने कुधर्ममुपासको मोहोपासकः स तु ।
 हन्त! तत्र स श्रेयइति मन्यते श्रेयो नास्ति तत्र ॥३४॥
 भावे तु सम्यग्दृष्टिश्रमणो यदुपासकः श्रमणान् ।
 तेन स गौणो नाम उपासकः आवको वेति ॥३५॥
 कार्यं द्वादशाङ्गं प्रवचनमनगारगारधर्मद्वारा ।
 ते केवलीभिः प्रसूताः प्र उपसगात् प्रसूयन्ति ॥३६॥

उपासक चार प्रकार का होता है— द्रव्योपासक, तदथोपासक, मोहोपासक और भावोपासक। द्रव्यशरीर से उपासक होने योग्य (द्रव्योपासक तथा) ओदनादि पदार्थों की इच्छा रखने वाला तदथोपासक है। ॥३२-३३॥

(जो) कुप्रवचन और कुधर्म (जिनेतर धर्म) की उपासना करता है, वह मोहोपासक है, खेद है वह (मोहोपासक) वहाँ (कुधर्म में) श्रेय (कल्याण) मानता है (किन्तु) वहाँ श्रेय (कल्याण) नहीं है। ॥३४॥

श्रमणेतर सम्यग्दृष्टि, श्रमण की उपासना करने के कारण उपासक अथवा आवक गौण अर्थात् गुण-निष्ठत्र नाम वाला होने से भावोपासक है। ॥३५॥

द्वादशाङ्गों में अनगार धर्म और आगार धर्म का प्रवचन है, ये (अनगार और आगार) केवलज्ञानियों द्वारा उत्पन्न किये गये 'प्र' उपसर्गपूर्वक उल्कृष्ट अर्थ में प्रसूत होते हैं। ॥३६॥

तो ते सावग तम्हा उवासगा तेषु होति भक्तिगया।
 अद्विसेसंमि विसेसो समणेषु पहाणया भणिया ॥३७॥
 कामं तु निरवसेसं सर्वं जो कुण्ड तेण होड़ कयं।
 तंमि ठिताओ समणा नोबासगा सावगा गिहिणो ॥३८॥
 दब्वंभि सचित्तादी संजमपडिमा तहेव जिणपडिमा।
 भावो संताण गुणाण थारणा जा जहिं भणिआ ॥३९॥
 सा दुविहा छविगुणा भिक्खूण उवासगाण एगूणा।
 उवरि भणिया भिक्खूणुबासगाणं तु बोच्छामि ॥४०॥

ततः ते श्रावकाः तस्मादुपासकाः तेषु भवन्ति भक्तिगताः।
 अद्विशेषे विशेषः श्रमणेषु प्रधानता भणिता ॥३७॥
 कामं तु निरवशेषं सर्वं यत्करोति तेन भवति कृतम्।
 तस्मिन् स्थिताः श्रमणाः न उपासकाः श्रावकाः गुहिणः ॥३८॥
 द्रव्ये सचित्तादयः संयमप्रतिमा तथैव जिनप्रतिमा।
 भावः सन् गुणानां धारणा या यत्र भणिता ॥३९॥
 सा द्विविष्टा घट्टद्विगुणाः भिक्खूणामुपासकानामेकोनाः।
 उपरि भणिता भिक्खूणामुपासकानां तु बक्ष्यामि ॥४०॥

इस कारण वे श्रावक उन (धर्मों) में भक्तियुक्त होने से उपासक होते हैं। सामान्यतः श्रमणों के प्रति (भक्ति की) विशेष प्रधानता के कारण गृही ही उपासक कहे गये हैं ॥३७॥

जो कार्य को सम्पूर्णता से करता है, उसी के द्वारा वह कृत माना जाता है। केवल ज्ञानी के रूप में विद्यमान होने पर वे श्रमण उपासक नहीं होते हैं, इसलिए गृही ही श्रावक होते हैं ॥३८॥

(प्रतिमा नाम, स्थाप्ताना, द्रव्य और भाव रूप से चार प्रकार की होती है।) द्रव्य प्रतिमा सचित (अचित, मिश्र) आदि रूप। (संन्यास की इच्छा वाले गृहस्थ का द्रव्यचिह्न) संयम प्रतिमा है, उसी प्रकार जिन प्रतिमा हैं। प्रतिमा (विशेष) के उपदिष्ट गुणों को धारण करना भाव प्रतिमा है ॥३९॥

वह (प्रतिमा) दो प्रकार की होती है— (भिक्षु प्रतिमा और उपासक प्रतिमा), भिक्षुओं की छः की दोगुनी (अर्थात् बारह) और उपासकों की एक कम (अर्थात् ग्यारह

तत्थहिगारो तु सुहं नाडे आङ्किखआव गिहि धर्म ।
 साहूणं च तव संजमंभि । संबेगकरणाणि ॥४१॥
 जडे ता गिहिणो खि य उज्जमंति नणु साहुणावि कायच्छं ।
 सर्वतथामो तवसंजमंभि इअ सुद्धनाऊणं ॥४२॥
 दंसणावयसामाङ्गपोसहपडिमा अबंभसचित्ते ।
 आरंभपेसउहिष्टुवज्जाए समणभूए आ ॥४३॥
 ॥ उवासगपडिमा निज्जुली समता ॥५॥

तत्राधिकारस्तु सुखं ज्ञातुं आख्यायितः च गृहिणः धर्मः ।
 साधुनाँ च तपःसंयमयोः संबेगकरणाणि ॥४१॥
 यदि ते गृहिणः अपि च उद्यमन्ति ननु साधुनापि कर्त्तव्यम् ।
 सर्वतथाम तपःसंयमयोः इति शुद्धज्ञात्वा ॥४२॥
 दर्शनव्रतसामायिकप्रोष्ठप्रतिमा अबह्यसचित्तौ ।
 आरम्भप्रेष्योहिष्टुवज्जने श्रमणभूता च ॥४३॥

प्रतिमायें हैं।) ऊपर निर्दिष्ट भिक्षु और उपासक प्रतिमाओं का प्ररूपण करेंगा। ॥४०॥

(भिक्षुप्रतिमा और उपासकप्रतिमा का) सरलता से ज्ञान करने के लिए इस अधिकार (उपासक प्रतिमा) को गृही धर्म आख्यायित किया गया है। तप और संयम साधुओं के मोक्ष के करण-साधन हैं। ॥४१॥

यदि वे गृहस्थ भी (उपासक प्रतिमाओं) के पालन का प्रयत्न करते हैं तो निश्चयपूर्वक श्रमण को भी इसे भली प्रकार जानकर सर्वथा तप-संयम में प्रयत्न करना चाहिए। ॥४२॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, पौष्टि, नियमप्रतिमा, अबह्यवर्यत्याग, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यत्याग, उहिष्टत्याग और श्रमणभूत प्रतिमा (ये ग्यारह प्रतिमायें हैं) ॥४३॥

। १७ । । सप्तमभिष्मुप्रतिमाष्ययननिर्युक्तिः ॥

भिष्मखूणं उवहाणे पगयं तथ्य च हवन्ति निक्षेपेवा ।
तिश्च य पुच्छुष्टिष्ठा पगयं पुण भिष्मखुपडिमाए ॥४४॥
समाहितोवहाणे य विवेकपडिमाइ य
पदिसंलीणा य तहा एविहारे य पञ्चमीवा ॥४५॥
आयारे बायाला पडिमा सोलस य बज्रिया ठाणे ।
चत्तारि अ ववहारे मोए दो दो चंदपडिमाओ ॥४६॥
एवं च सुयसमाधिपडिमा छावट्टिया य पन्नता ।
समाईयमाईया चारित्तसमाहिपडिमाओ ॥४७॥

भिष्माणां उपधानं प्रकृतं तत्र च श्वन्ति निक्षेपाः ।

त्रयश्च पूर्वोदिष्टाः प्रकृतं पुनः भिष्मुप्रतिमाः ॥४४॥
समाष्युपधाने च विवेकप्रतिमा च ।
प्रतिसंलीनता च तथा एकविहारश्च पञ्चमी ॥४५॥
आचारे द्विचत्वारिशत् प्रतिमा बोडश च वर्णिताः स्थाने ।
चतुर्स्वश्च व्यवहारे मोचे है है चंदप्रतिमेश्च ॥४६॥
एवं च श्रुतसमाधिप्रतिमाः षट्षष्ठिश्च प्रज्ञप्ताः ।
सामाधिकादयः चारित्रसमाधिप्रतिमाः ॥४७॥

प्रस्तुत भिष्म-प्रतिमा नामक अधिकार में भिष्म के (नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार) निक्षेप होते हैं। (इनमें से नाम भिष्म, स्थापना भिष्म और द्रव्यभिष्म ये तीन पहले ही (उपासक प्रतिमा में) कहे गये हैं। इस (भिष्म प्रतिमा अधिकार) में भिष्म प्रतिमाओं का कथन किया गया है ॥४४॥

समाधि, उपधान, विवेक, प्रतिसंलीनता तथा पाँचवीं एकलविहार प्रतिमा है ॥४५॥

आचाराङ्क में ४२, स्थानाङ्क में १६ प्रतिमायें वर्णित हैं, व्यवहारसूत्र में चार प्रतिमायें तथा प्रसवण-नियम (सम्बन्धी लघु एवं दीर्घ) दो प्रतिमायें हैं तथा दो चन्द्रप्रतिमायें (यवमध्या और वग्रमध्या) हैं ॥४६॥

इसप्रकार श्रुतसमाधि प्रतिमा ६६ उपदिष्ट हैं। सामाधिक आदि पाँच चारित्र सम्बन्धी प्रतिमायें हैं ॥४७॥

भिक्षुणं उवहाणे उवासगाणं च विनिया सुन्ते ।
 गणकोबाड़ विवेगो सम्भितरबाहिरो दुविहो ॥४८॥
 सोइंदियमादीआ पदिसंलीणया चउत्थिया दुविहा ।
 अष्टगुणसमग्रस्य य एगविहारिस्स पञ्चमिया ॥४९॥
 दृढसम्मतचरिते मेधावि बहुस्मुए य अवले च ।
 अरहरइसहे दविए खंता भयभेरवाणं च ॥५०॥
 परिचित्तिकालामंतणखामणतवसंजमे अ संघयणे ।
 भन्तो बहिनिकर्खेवे आवन्ने लाभगमणे य ॥५१॥

॥९॥ पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिः ॥

भिक्षुणामुग्धाने उपासकानां च लिपिताः सूत्रे ।
 गणकोपादिः विवेकः साभ्यन्तरबाह्यो द्विविधः ॥४८॥
 श्रोत्रेन्द्रियादयः प्रतिसंलीनता चातुर्थिका द्विविधा ।
 अष्टगुणसमग्रस्य च एकलविहारिणः पञ्चमिका ॥४९॥
 दृढसम्यक्त्वचारित्रयोः मेधावी बहुश्रुतज्ञाचलश्च ।
 अरतिरतिसहः द्रव्ये क्षमिता भयभेरवाणां च ॥५०॥
 परिचितः कालामन्त्रणक्षमणतपसंयमे च संहनने ।
 भन्तः बहिर्निक्षेपः आपन्ने च लाभगमने च ॥५१॥

सूत्र(अन्यो—आगमो)में भिक्षुओं और श्रावकों के तप में(क्रमशः बाहु और ग्यारह) प्रतिमाये वर्णित हैं। विवेक प्रतिमा अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार की है— क्रोधादि (अभ्यन्तर विवेक प्रतिमा है) और गण (शरीर, भक्त-पान बाह्य विवेक प्रतिमा है) ॥४८॥।

चौथी प्रतिसंलीनता प्रतिमा (इन्द्रिय और नोइन्द्रिय) दो प्रकार की होती है। (इन्द्रिय प्रतिसंलीनता प्रतिमा) श्रोत्रेन्द्रिय आदि (पाँच प्रकार की) होती है। पाँचवीं एकलविहारी प्रतिमा (आचार सम्पदादि) आठ गुणों से युक्त भिक्षु की होती है ॥४९॥।

सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ़ (निःशक्तित), मेधावी, बहुश्रुत (दसपूर्वों का ज्ञाता) और अचल (अर्थात् ज्ञानादि में स्थिर चित) द्रव्य में अरति—प्रतिलोम उपसर्ग और रति—अनुलोम उपसर्ग, भय (अक्षम्यात् भय) और भैरव—सिंहादि के भय को सहने वाले होते हैं ॥५०॥।

श्रमण को अपने धरिकर्मों, (प्रत्येक क्रिया के योग्य) समय, गण को आमन्त्रित कर क्षमापणा देने, अधिकारी और संहनन के अनुसार तप और संयम का निर्देश देने,

॥८॥ पर्युषणाकल्पाध्ययननिर्युक्तिः ॥

पञ्जोसमणाए अद्वज्ञराङ्ग होंति उ इमाङ्ग गोणणाङ्ग ।
 परिवायववत्थवणा पञ्जोसमणाय पाण्डिया ॥५२॥
 परिवसणा पञ्जुसणा पञ्जोसमणा य वासवासो वा।
 पद्मसमोसरणं ति य ठवणा जडोग्गेगड्हा ॥५३॥
 ठवणाए निक्खेवो छवको दब्बं च द्रव्यनिक्खेवो ।
 खेत्तं तु जग्मि खेत्ते (काले) कालो जहिं जो उ ॥५४॥

पर्युषणामणायाः अप्त्वराणि भक्तिं तु इमानि गौणानि।
 पर्यायव्यवस्थापना पर्युपशमनाया प्रकटिता ॥५२॥
 परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, च वर्षावासक्षः ।
 प्रथमसमवसरणमिति च स्थापना ज्येष्ठावग्रह एकार्थाः ॥५३॥
 स्थापनायाः निष्क्रेपः चटकः द्रव्यं च द्रव्यनिष्क्रेपः ।
 क्षेत्रं तु यस्मिन् क्षेत्रे काले कालो यस्मिन् यत् ॥५४॥

आहार, उपधि (आदि) निष्क्रेप करने, प्राप्त करने, प्राप्त करने योग्य आहार और (गण से) बहिर्गमन या उपाश्रयादि से प्रस्थान के विषय में सम्यक् रूप से परिचित होना चाहिए ॥५१॥

पर्युपशमना ये आक्षरादि तो गुण-निष्पत्र होते हैं, श्रमणों की पर्यायव्यवस्थापना पर्युपशमना से व्यक्त होती है ॥५२॥

परिवसना—चारमास तक एक स्थान पर रहना, पर्युषणा—किसी भी दिशा में परिभ्रमण नहीं करना, पर्युपशमना—कषायों से सर्वथा उपशान्त रहना, वर्षावास- वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर रहना, प्रथम समवसरण—नियत वर्षावास क्षेत्र में प्रथम आगमन, स्थापना—वर्षावास के क्रम में ऋतुबद्ध काल के अतिरिक्त काल की मर्यादा स्थापित करना और ज्येष्ठावग्रह—चार मास तक एक क्षेत्र का उत्तम आश्रय आदि—इनमें व्यङ्गनों का अन्तर है अर्थभेद नहीं है ॥५३॥

(पर्युषणावाची उपरोक्त शब्दों में से स्थापना का निष्क्रेप-दृष्टि से कथन)— स्थापना निष्क्रेप छः प्रकार का होता है (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्थामित्व एवं करण), द्रव्य-स्थापनानिष्क्रेप (अर्थात् पर्युषण करने वाले का द्रव्य शरीर और उसके द्वारा उपभोग योग्य एवं त्याज्य अचित-सचितादि) द्रव्य, क्षेत्र (स्थापना-निष्क्रेप), जिस क्षेत्र में स्थापना

ओदड्याईयाणं भावाणं जा जहिं भवे ठवणा ।
 भावेण जेण य पुणो, ठविज्जाए भावठवणा उ ॥५५॥
 सामिन्ने करणमिम् य, अहिगरणे चैव होति छब्देया ।
 एगस्तपुहत्तेहिं, दब्बे खेतउद्भवावे य ॥५६॥
 कालो समयादीओ, पगयं समयमिम् तं परवेस्सं ।
 निक्खमणे य पवेसे, पाडससरए य बोच्छामि ॥५७॥
 उणाङ्गित्त मासे अटु विहरिऊण गिम्हहेमते ।
 एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए ॥५८॥

औदयिकादिकानां भावानां या यत्र भवेत् स्थापना ।
 धृपेन चेन य तुन् स्थापयेत् धावस्थापना तु ॥५५॥
 स्वामित्वे करणे आधिकरणे चैव भवन्ति उद्भवेदाः ।
 एकत्वपृथक्त्वैः उद्द्वे क्षेत्रकालभावे च ॥५६॥
 कालः समयादिकः प्रकृतं समये तत्प्ररूपयिष्यामि ।
 निक्खमणे च प्रवेशे, पावृद्-शरदोः च ब्रह्मयामि ॥५७॥
 ऊनातिरिक्तमासे, अष्टसु विहृत्य ग्रीष्महेमन्तयोः ।
 एकाहं पञ्चाहं मासं च यथा समाख्यातम् ॥५८॥

(पर्युषणा की जाती है) और काल (स्थापना-निषेप) जिस काल में स्थापना की जाती है ॥५४॥

^{जिसे भाव} औदयिक आदि भावों की जिस सुन्दर में स्थापना की जाती है या सुन्दर जिस भाव से स्थापना की जाती है, वह भाव स्थापना-पर्युषणा है ॥५५॥

एकत्व एवं पृथक्त्व के आधार पर द्रव्य के स्वामित्व, करण और अधिकरण की दृष्टि से छः भेद होते हैं, इसीप्रकार क्षेत्र, काल और भाव के भेदों के विषय में (कथन करना चाहिए) ॥५६॥

प्रस्तुत समय अधिकार में उस काल अर्थात् समयादिक का निरूपण कराँगा, करतुबद्ध क्षेत्र से वर्णा ऋतु में निषेपने और शरद ऋतु में प्रवेशे— यह कहता हूँ ॥५७॥

ग्रीष्म (के चार मास) और हेमन्त (शीतऋतु के चार मास) में अर्थात् आठ माह से कम या अधिक विहार करना चाहिए। यह विहार आठ महीने से एक दिन, पाँच दिन और मास पर्यन्त जिस प्रकार कम या अधिक होता है (उसे कहता हूँ) ॥५८॥

काऊण मासकर्प्पं, तत्थेव उवागयाण ऊणा ते ।
 चिक्खाल वास रोहेण वा वि तेण द्विया ऊणा ॥५९॥
 वासाखेत्तालभे, अद्वाणादीसु पत्तमहिंगा तो ।
 साहगवाधाएण व अपडिक्कमिठं जड़ व्यंति ॥६०॥
 पडिमापडिवन्नाणं एगाहं पच होतऽहालंदे ।
 जिणासुद्वाणं मासो निक्कारणओ य थेराणं ॥६१॥
 ऊणाइरित्त मासा एवं थेराण अद्वु पायव्वा ।
 इतरे अद्वु विहरिठं नियमा चत्तारि अच्छन्ति ॥६२॥

कृत्वा मासकर्प्पं तत्रैषोपागतानामूला ते ।
 कर्दमवधरोषेन वापि तेन स्थिता न्यूनाः ॥५९॥
 वर्षाक्षेत्रालख्ये अज्वादिषु प्राप्तमधिकाः तु ।
 साधकव्याधातेन इव, अप्रतिक्रमितुं यदि वदन्ति ॥६०॥
 प्रतिमाप्रतिपन्नानां एकाहः पञ्चहानि यथालन्दिनः ।
 जिनशुद्वानां मासः निक्कारणतः च स्थविराणाम् ॥६१॥
 ऊनातिरिक्तमासा एवं स्थविराणामष्ट ज्ञातव्याः ।
 इतरे अद्वु विहर्तु नियमेन चत्तारि आसते ॥६२॥

एक मास (आषाढ़ मास) का कर्प्प वास कर (वर्षावास योग्य स्थान न मिलने पर) : उसी स्थान पर वर्षावास करना यह (अद्वु मास से) कम विहार है। कीचड़, बरसात (अथवा नगरादि के घेरे) के कारण भी वही वास करने से (आठ माह से) कम विहार है। ॥५९॥

चातुर्वर्षम् क्षेत्र प्राप्त न होने पर, मार्ग आदि में ही अधिक दिन प्राप्त (अतीत) होने पर एवं सिद्धि में बाधक (नक्षत्र) होने से यदि प्रतिक्रमण न करने का निर्देश हो तो आठ माह से अधिक विहार होता है। ॥६०॥

प्रतिमाधारी मुनि एक अहोरात्रि, यथालन्दिक मुनि पौच अहोरात्रि, जिनकूल्पी और स्थविरकल्पी साथु एक मास तुङ्गनिक्कारण (सामान्य स्थिति में) एक क्षेत्र में रहे व्याप्ति । से अधिक कारणवश उक्त अवधि घट-बढ़ सकती है। ॥६१॥

उक्तरीति से स्थविरकल्पिकयों का आठ माह से कम और अधिक विहार जानना चाहिए। इन (स्थविरकल्पियों) से भिन्न (प्रतिमाप्रतिपन्न, यथालन्दिक आठ महीने विहार कर नियमपूर्वक चार महीने वर्षावास करते हैं। ॥६२॥

आषाढ़पूर्णिमाए, वार्षवाससंतु होति गतव्यं ।
 मग्नसिरबहुलदसमीड जाव एककम्बि खेत्तम्बि ॥६३॥
 आहिं ठित्तति वसभेहिं खेत्तं गाहेत्तु वासपाओग्यं ।
 कल्पे उहेत्तु लक्षणा, वालणउसुद्दस्म पंचाहे ॥६४॥
 एत्य तु अणभिगगहिअं वीसतिरायं सवीसतीमासं ।
 तेण परमभिगगहिअं गिहिणातं कत्तिओ जाव ॥६५॥
 असिवाइकारणेहिं अहवा वासं ण सुद्दु आरब्दं ।
 अहिवद्विघम्बि वीसा इयरेसु सवीसई मासो ॥६६॥

आषाढ़पूर्णिमायाः वर्षवासे तु भवति गतव्यम् ।
 मार्गशीर्षबहुलदशम्याः यावत् एकस्मिन् क्षेत्रे ॥६३॥
 बहिः स्थितैः अहवमैः क्षेत्रं गृहीत्वा वास प्रायोग्यम् ।
 कल्पे कथ्येत स्थापना आवणाशुद्धस्य पञ्चमेहनि ॥६४॥
 अत्र त्वनभिगृहीतं विंशतिरात्रं सविंशतिमासम् ।
 तेन परमभिगृहीतं गृहिणात् (गृहिणा तत्) कार्तिकं यावत् ॥६५॥
 अशिवादिःकारणौरथवा वर्षणं न सुष्टवारब्दम् ।
 अभिवद्विद्विते विंशतिः इतरेषु सविंशतिर्मासः ॥६६॥

आषाढ़पूर्णिमा तक वर्षवास के लिए चला जाना चाहिए और मार्गशीर्ष के कृष्णपक्ष की दशमी तिथि तक एक क्षेत्र में निवास करना चाहिए ॥६३॥

(वर्षवास क्षेत्र से) बाहर (नियत स्थान पर) स्थित श्रेष्ठ साधुओं को वर्षवास योग्य क्षेत्र (स्थान) ग्रहण कर, कल्प (वर्षवास) की घोषणा कर श्रावण—कृष्ण पक्ष पञ्चमी से वर्षवास की स्थापना करनी चाहिए ॥६४॥

(चातुर्मास हेतु नियत क्षेत्र के बाहर स्थित होने पर गृहस्थों द्वारा पूछे जाने पर कि आर्य यहीं वर्षवास करेगे साधु को अभी निष्ठय नहीं किया है ऐसा उत्तर देना चाहिए), यदि अभिवद्वित वर्ष है तो आषाढ़ पूर्णिमा के पञ्चात् बीस दिन तक और (यदि चन्द्रवर्ष है तो) पचास दिन तक इसके पञ्चात् निष्ठय कर लिया है, ग्रहण कर लिया है— कार्तिक मास पर्यन्त (ऐसा उत्तर देना चाहिए) ॥६५॥

कदाचित् अकल्पाणकारी कारणों (के उत्पन्न होने से साधु के विहार करने पर) अथवा अच्छी वर्षा ग्राम्य न होने पर (साधु के वर्षवास की स्वीकृति से अच्छी वर्षा

एत्थ तु पणगं पणगं कारणियं जा सबीसतीमासो ।
 सुद्धदसमीद्वियाण व आसाढीपूर्णिमोसरणं ॥६७॥
 इय सत्तरी अहण्णा असीति णउती दसुसरसयं च ।
 जड वासति मिगमसिरे दसराया तिपिण उक्कोसा ॥६८॥
 काकण मासकल्पं तत्येव ठियाणउतीए मरगसीरे ।
 सालम्बणाण छम्मासितो तु जटोगगहो होति ॥६९॥

अत्र तु पञ्चकं पञ्चकं कारणिकं या सविंशतिर्मासः ।
 शुद्धदशमीस्थितानां च आषाढीपूर्णिमापसरणम् ॥६७॥
 इति सप्ततिर्जिधन्याउतीतिर्वतिदशोत्तरशतं च ।
 यदि वर्षति मार्गशीर्षे दशरात्राणि त्रीणि उत्कृष्टाः ॥६८॥
 कृत्वा मासकल्पं तत्रैव स्थितानांउतीते मार्गशीर्षे ।
 सालंबनानी षाणमासिकस्तु ज्येष्ठावग्रहो अवति ॥६९॥

का अनुमान लगाकर तदनुसार कृषिकार्य में प्रवृत्त कृषकादि उसके प्रति कटु होंगे इस कारण गृहस्थ द्वारा वर्षावास के विषय में पूछने पर) अधिवर्द्धित संवत्सर में आषाढ पूर्णिमा से २० दिन और सामान्य संवत्सर में एक मास और बीस दिन अर्थात् ५० दिन तक (ऐसा अनिश्चयात्मक उत्तर देना चाहिए) ॥६६॥

आषाढ पूर्णिमा को नियत स्थान पर प्रवेश कर (वहाँ रहते हुए वर्षावास योग्य क्षेत्र न मिलने की स्थिति में योग्य क्षेत्र प्राप्त करने हेतु) पाँच-पाँच दिन करके पचास दिन तक (योग्य क्षेत्र प्राप्त होने की) प्रतीक्षा करना चाहिए। इसके पश्चात् भाद्रपद शुक्ला दशमी को वहाँ से हट जाना चाहिए ॥६७॥

इसप्रकार सत्तर दिन का वर्षावास जघन्य, अस्सी, नब्बे और एक सौ दस दिन, तथा यदि मार्गशीर्ष में (अनवरत) वर्षा हो तो तीन दसरात्रि (तीस दिन) तक (सामान्य चार मास के अतिरिक्त) और अधिकतम वर्षावास कर सकता है ॥६८॥

जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उसी स्थान पर वर्षावास करते हुए काणपूर्वक मार्गशीर्ष भी व्यतीत हो जाने पर छः मास का ज्येष्ठावग्रह या वर्षावास होता है ॥६९॥

जड़ अतिथि पवित्रिहारो चउपडिवयमिमि होइ गंतव्यं ।
 अहवावि अणिंतस्सा आरोवणपुब्बनिद्विद्वा ॥७०॥
 काईयभूमी संथारए य संसत्त दुल्लहे भिक्षु ।
 एएहिं कारणोहिं अपत्ते होइ निर्गमण ॥७१॥
 रावा सप्ये कुंथु अगणि गिलाणे य थंडिलस्सउसति ।
 एएहिं कारणोहिं अपत्ते होइ निर्गमण ॥७२॥
 वासं व न ओरमई पंथा वा दुर्गमा सचिकखल्ला ।
 एएहिं कारणोहिं अडककंते होइ निर्गमण ॥७३॥

अवस्थित वादिरहुदेवहुः प्रतिपातु भवति वासव्यम् ।
 अथवाऽपि अगच्छन्तः आरोपणा पूर्वनिर्दिष्टा ॥७०॥
 कायिकभूमिः संस्तारकश्च संसत्तं दुर्लभाभिक्षा ।
 एतैः कारणैः अप्राप्ते भवति निर्गमनम् ॥७१॥
 राजा सर्पः कुन्थु अग्निः ग्लाने च स्थणिडलस्यासति ।
 एभिः कारणैः अप्राप्ते भवति निर्गमनम् ॥७२॥
 वर्षा च न उपरमति पंथानो वा दुर्गमाः सकर्दमाः ।
 एतैः कारणैः अतिक्राते भवति निर्गमनम् ॥७३॥

यदि (वर्षावास कर रहे साधु को चातुर्मास के मध्य) सकारणपद विहार करना पड़े तो चार पर्वतिथियों को ही प्रस्थान करना चाहिए अथवा न जाने का भी (कुछ ने) पहले निर्देश किया है ॥७०॥

जीवों से युक्त भूमि, संस्तारक भी जीवों से युक्त हो, भिक्षा दुर्लभ हो, इन कारणों से चातुर्मास पूर्ण न होने पर भी विहार करना चाहिए ॥७१॥

राजा, सर्प, कुन्थु (त्रिन्द्रिय जीव-विशेष), अग्नि से भय, रुग्ण होने और स्थणिडल (उच्चार-प्रश्नवण के योग्य) भूमि न रहने— इन कारणों से चातुर्मास पूर्ण न होने पर भी विहार करना चाहिए ॥७२॥

अथवा वर्षा न रुके, मार्ग दुर्गम और पक्ष्यमुक्त हो; इन कारणों से चातुर्मास व्यतीत होने के पश्चात् विहार करना चाहिए ॥७३॥

असिवे ओमोबरिए राया दुष्टे भए व गेलणे ।
 एहिं कारणोहिं अडकंते होति निर्गमण ॥७४॥
 उभओंकि अद्वजोयण सअद्वकोसं च तं हवति खेत्तं ।
 होइ सकोसं जोयण, मोत्तूण कारणज्जाए ॥७५॥
 उहुमहे तिरियमि च, सकोसर्य सव्यतो हवति खेत्तं ।
 इंदपथमाइएसुं छहिसि इयरेसु चउ पंच ॥७६॥
 तिणिण दुवे एकका वा वाघाएण दिशा हवइ खेत्तं ।
 उज्जाणाओ परेण छिणमण्डपं तु अखेत्तं ॥७७॥

अशिवेऽबमौदर्ये राजस्त्रिष्ठे भये ग्लानत्ये वा ।
 एतैः कारणैः अतिक्रान्ते भवति निर्गमनम् ॥७४॥
 उभयतोऽपि अद्वयोजनं साद्वक्रोशं च तद् भवति क्षेत्रम् ।
 भवति सक्रोशं योजनं, मुक्त्वा कारणतया ॥७५॥
 ऊर्ध्वमध्यस्थिर्यक् च, सक्रोशं सर्वतो भवति क्षेत्रम् ।
 इन्द्रपदमादिकेषु बहुदिश्मु इतरेसु अत्यारिपञ्च ॥७६॥
 त्रिस्त्रः द्वे एका वा व्याघातेन दिशा भवति क्षेत्रम् ।
 उद्धानात् परेण छिन्नमण्डपं तु अक्षेत्रम् ॥७७॥

अमङ्गल होने पर, अवमीदर्य ब्रत धारण करने पर, राजा के दुष्ट (होने) पर, भय (उपस्थित होने) पर तथा रोग होने पर—इन कासमों से चातुर्मुखे व्यतीत हो जाने के आद विद्यम होता है ॥७४॥ उत्तरार्द्ध कासों से चातुर्मुखि प्रभतीत होता है ॥७५॥ कारण होने पर क्षेत्र की मर्यादा से मुक्त होकर भी गमन हो सकता है ॥७५॥

क/

ऊपर-नीचे और तिरछे एक कोस तक चारों ओर क्षेत्र होता है। (पर्वत पर ऊपर और नीचे भी ग्राम होता है अतः पर्वत पर मध्य स्थित ग्राम की दृष्टि से) छः दिशाये होती हैं। अन्य स्थितियों में क्षेत्र के चार, पाँच, तीन, दो अथवा एक दिशा व्याघात से होती है। उपवन आदि के परे जिन ग्रामों और नगरों के सभी दिशाओं में ग्राम और नगर नहीं होते हैं ये छिन्नमण्डप अक्षेत्र होते हैं ॥७६-७७॥

दग्धद्वृ तिनि सत्त व उपुवासानु ए शुर्णति हं क्षेत्रः
 चउरद्वाति हणंती जंघद्वे कोवि उ परेण ॥७८॥
 दब्बद्वयणाऽहारे॑ विगई॒ संथार॒ मत्तए॑ लोह॒ ।
 सच्चिते॑ ६ अचिते॑ ७ ओसिरणं गहण-धरणाई॑ ॥७९॥
 पुव्वाहारोसवण जोग विवद्वीय सत्तिङगहणं ।
 संघइय असंघइए दब्बविवद्वी पसत्था उ ॥८०॥
 विगति विगतीभीओ विगइगायं जो उ भुजए भिक्खू ।
 विगई विगथसभावं विगति विगति बला नेइ ॥८१॥

दक्षद्वृ त्रीणिसप्त च ऋतुवासेषु न अन्ति तत्क्षेत्रम् ।
 चतुरष्ट इति घन्ति जङ्घाद्वे॑ कोउपि तु परेण ॥७८॥
 द्रव्यस्थापनाऽहारे॑ विकृतिः संस्तारकमात्रकलोचाः ।
 सच्चिते॑ अचिते॑ व्युत्सर्जनं ग्रहण धारणानि ॥७९॥
 पूर्वाहारोषशमनं योगविवद्विंतशस्तिः॑ ग्रहणम् ।
 सच्छियते असच्छिते॑ द्रव्यविवद्विं॑ प्रशस्ताः॑ तु ॥८०॥
 विकृतिविकृतीभीतः॑(विगतीभीतः॑) विकृतिगतंयसु भुद्दत्ते॑ भिक्षुः॑ ।
 विकृतिः॑ विकृतस्वभावं विकृति विकृति बलान्नयति ॥८१॥

 जहाँ जहे की आधी ऊँचाई तक जल हो वहाँ ऋतुकाल में तीन बार (आना-जाना ६ बार) और वर्षाकाल में ७ बार (आना-जाना १४ बार) गमन से क्षेत्र का उपयात नहीं होता है। (जबकि ऋतुकाल में) ४ बार (आना-जाना ८ बार) और (वर्षाकाल में) आठ बार (आना-जाना १६ बार) गमन से क्षेत्र का उपयात होता है। जहाँ जांघ से ऊपर जल है वहाँ (ऋतुकाल और वर्षाकाल में) एक बार भी गमन से कोई क्षेत्रमर्यादा का अतिक्रमण करता है ॥७८॥

- तथापि॑ द्रव्यस्थापना में आहार, विकृति॑, संस्तारक, मात्रक, लोच, सचित और अचित का परित्याग, ग्रहण, धारण आदि आते हैं ॥७९॥

पूर्व अर्थात् ऋतुकाल—शीत और ग्रीष्म काल—में ग्रहण किये गये आहार का यथाशक्ति सामर्थ्य बढ़ाकर त्याग करना चाहिए, (विकृति स्थापना—सञ्चायिक और असञ्चायिक दो प्रकार की है, प्रशस्त कारणों से गृहीत द्रव्य विवृद्धिकृत है ॥८०॥

विविषणति (संसार) से भयभीत या विगति अर्थात् कुमति से भयभीत जो श्रमण विकृति (विकार) जनित वस्तु और विकृति को प्राप्त भोजन-पान आदि ग्रहण करता

पस्तथ विगईग्रहणं गरहियविगतिग्रहो य कज्जम्पि।
 गरहा लाभप्रमाणे पच्चय पाप्यप्पडीघाओ ॥८२॥
 कारणओ उद्गुगहिते उज्ज्ञाऊण गेणहंति अण्णपरिसाडी।
 दाढं गुरुस्स तिणि ड सेसा गेणहंति एककेकके ॥८३॥
 उच्चार-पासवण-खेलमत्तए तिणि तिणि गेणहंति।
 संजय-आएसद्वा भुजेज्जउवसेस उज्जांति ॥८४॥

प्रशस्तविकृतिग्रहणं गर्हितविकृतिग्रहश्च कार्ये ।
 गर्हा लाभप्रमाणे प्रत्ययः पापप्रतिघातः ॥८२॥
 कारणतः ऋतुगुहीते उज्ज्ञात्वा गृणन्ति अन्यपरिशाटीः।
 दातुं गुरोः तिरुः शेषाः गृणन्ति एकैकम् ॥८३॥
 उच्चारप्रस्तवणश्लेष्ममात्रकः त्रीणि त्रीणि गृणन्ति।
 संयतादिष्टाः भुज्जीरन् अवशेषमुज्ज्ञान्ति ॥८४॥

है उसे विकार स्वभाव वाली विकृति बलपूर्वक विकृति (असंयम या दुर्गति) की ओर ले जाती है।

प्रशस्तविकृति ग्रहण और अप्रशस्त विकृति ग्रहण, कार्य या प्रयोजन वश करना चाहिए। अप्रशस्त विकृति के ग्रहण की मात्रा का निष्ठय (जितने प्रमाण में बाल, वृद्ध या ग्लान के लिए आवश्यक हो) उससे करना चाहिए। कारणपूर्ण होने पर अप्रशस्त पाप की आलोचना करनी चाहिए ॥८२॥

कारणवश ऋतुकाल (शीत एवं ग्रीष्म काल) में ग्रहण किये गये संस्लारक को त्यागकर अन्य को ग्रहण करते हैं, दूसरे साथुओं को प्रदान करने के लिए गुरु तीन धारण करते हैं जबकि शेष एक-एक ग्रहण करते हैं ॥८३॥

प्रत्येक साधु मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग और श्लेष्म के निमित्त तीन-तीन पात्र ग्रहण करते हैं। साधु (आचार्य की) आज्ञा होने पर (आहार) ग्रहण करें, (वे) बचे हुए आहार का त्याग करते हैं ॥८४॥

धुवलोओ उ जिणाणं पिच्चं थेराण वासुद्वासासु ।
 असहु गिलाणस्य च, पातिक्कामेज्जा तं रवणि ॥८५॥
 मोत्तु पुराण-भावियसहु संविगग सेस पडिसेहो ।
 मा निहओ भविस्सङ् भोवणमोए य उहाहो ॥८६॥
 इरिएसण भासाणं मण वयसा काइए य दुच्छिरिए ।
 अहिगरणकसायाणं संवच्छुरिए विओसवाणं ॥८७॥
 कामं तु सब्बकालं गंतसु समितीचु होइ चायद्वरं ।
 वासासु अहीगारो वंहुपाणा मेडणी जेण ॥८८॥

धुवलोधस्तु जिनानां नित्यं स्थविराणां वर्षाकासेषु ।
 असहर्वलानस्य च, नातिक्कामयेत् तां रजनीम् ॥८५॥
 मुक्त्वा पुराणभावितश्चद्वौ संविग्ने शेषप्रतिषेधः ।
 मा निर्दयो भविष्यति भोजनमोचश्च उहाहः ॥८६॥
 ईर्युषणा भाषाणां मनसा वाचा कायेन च दुश्शरिते ।
 अधिकरणकसायाणां सांवत्सरिके व्यवशमनम् ॥८७॥
 कामंतु सर्वकालं पञ्चसु समितिषु भवति यतितव्यम् ।
 वर्षासु अधिकारः आप्नाणा मेदिनी येन ॥८८॥

(वर्षाकालमें जिनकल्पी साधुओं को नियमित लोच करना चाहिए, स्थविर-कल्पियों^१)
 को चातुर्मास में संक-बार लोच करना चाहिए। असमर्थ एवं ग्लान के लोच के लिए
 पर्युषणा की अन्तिम रात्रि का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ॥८५॥

पुराने शिष्य (जिसको पूर्व में दीक्षा दी जा चुकी हो), श्रद्धायुक्त अन्तःकरण वाले आवक
 एवं मुमुक्षु को छोड़कर अन्य को चातुर्मास में (दीक्षा देने का) निषेध है। (वर्षाकाल में दीक्षा
 से) वह निर्दय नहो जाय तथा भोजनत्वाग से श्रमणघर्मके प्रतिदुःखाग्नि दीप्त हो ॥८६॥

ईर्या, एषणा, भाषा (आदान-निषेध, प्रार्तिस्थापना इन पाँच समितियों) का मन,
 वचन और शरीर से पालन करना चाहिए। कुत्सित आचरण, पापकर्म और कषायों को
 संवत्सरी में उपशान्त करना चाहिए ॥८७॥

सभी श्रमणों को पाँच समितियों का सर्वदा यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए, पृथ्वी
 वर्षाकृतु में बहुत प्राणों की सत्ता वाली हो जाती है (इसलिए वर्षाकृतु में श्रमण को
 अत्यधिक यत्नपूर्वक संयम-पालन करना चाहिए) ॥८८॥

भाषणे संपाइमवहो दुण्ठेओ नेहछेओ तडयाए ।
 इरियचरियासु दोसुषि अपेहअपमज्जणे पाणा ॥८९॥
 मणवयणकायगुत्तो दुच्चरियाङ् तु खिप्पमालोए ।
 आहिगरणम्म दुख्यग पज्जोए चेव दमए य ॥९०॥
 एगबडल्ला भंडी पासह तुळ्ये य डज्जा खलहाणे ।
 हरणे झामणजत्ता, भाणगमल्लेण घोषणाया ॥९१॥
 अप्पिणह तं बडल्लं दुरुतगग! तस्स कुंभयारस्स ।
 मा भे ढहीहि गाम अश्चाणि वि सत्त वासाणि ॥९२॥

भाषणे संपातिमवथो दुङ्गेयः स्नेहछेदस्तृतीये ।
 ईर्याच्छिर्यासु द्वयोरपि अप्रेक्ष्याप्रमार्जने प्राणाः ॥८९॥
 मनवच्चनकायगुत्तः दुश्चरितानि तु क्षिप्रमालोचयेत् ।
 अधिकरणे द्विरुत्तम्यः प्रद्योत्तम्यः द्विरुत्तम्यः ॥९०॥
 एकबलीवदी शकटिका पश्य, यूयमपि दह्यमानखलथान्यम् ।
 हरणे दहनं भाणकमल्लेन घोषणाया ॥९१॥
 अर्धय तं बलीवदै, द्विरुत्तक! तस्मै कुम्भकाराय ।
 मा भोः! दह ग्रामम्, अन्यान्यपि सप्तवर्षीणि ॥९२॥

भाषण समिति से (युक्त न होने पर) उड़ने वाले दुङ्गेय (जीवाणुओं) का वध, तृतीय (एषणा समिति से युक्त न होने पर) दुङ्गेय अक्षाय जीवों का वध, ईर्या समिति और अन्तिम दो (आदान-निक्षेप और परिस्थापना समिति से युक्त न होने पर) बिना देखे, प्रमार्जित किये आचरण करने पर जीवों का वध होता है ॥८९॥

जो कुत्सित आचरण हैं उनकी शीघ्र आलोचना मन, वचन और काय गुणि से करनी चाहिए, पापजनक किया या असंयमित आचरण में द्विरुत्तक, राजाप्रद्योत और द्रमक का दृष्टान्त (दिया जाता है) ॥९०॥

(द्विरुत्तक का कथन) देखो! एक बैलवाली गाड़ी, (कुम्भकार का प्रत्युत्तर) तुम लोग भी जल रहे खलिहान (को देखो) (बैल) हरने पर प्रयत्न से (खलिहान) जला दिया, (ग्रामवासियों ने) उद्घोषक से घोषणा करवायी, हे द्विरुत्तक! उस कुम्भकार को बैल दे दो, (हे कुम्भकार) सात वर्ष तक हमारे ग्राम (के खलिहान) को जलाने के बाद पुनः मत जलाना ॥९१-९२॥

चंपाकुमारनन्दी पञ्चञ्चल थेरनयण दुमञ्चलए ।
 विह पालणया साखग इंगिषि उवाकाय णांदेसंर ॥१३॥
 बोहण पडिमा उदयण पभावउप्पाय देवदत्ताते ।
 मरणुयवाए तायस, यायण तह भीसणा समणा ॥१४॥
 गंधार गिरी देवय, पडिमा गुलिया गिलाण पडियरेण।
 पञ्जोयहरण दोबखर रण गहणा मेञ्ज ओसवणा ॥१५॥
 दासो दासीपतितो छत्तट्टिय जो घरे य बत्यब्बो ।
 आण कोवेमाणो हंतब्बो बंधियब्बो य ॥१६॥

चप्पाकुमारनन्दी, पञ्चाप्सरः स्थविरनयनदुमबलये ।
 विहगपाशानयः श्रावकः, इङ्गिनी उपपातः नन्दीश्वरे ॥१३॥
 बोधनं प्रतिमा उदयनः प्रभावः उत्पातो देवदत्तात् ।
 मरणोपपातः तायसः नयनं तथा भीषणा: श्रमणा: ॥१४॥
 गन्धारगिरिः दैवतं प्रतिमा गुलिका खलानप्रतिचरेण ।
 प्रद्योतहरणं दुष्कररणगहना मेञ्च उत्सवाः ॥१५॥
 दासो दासीपतितः छत्रस्थितः यः गृहे च वास्तव्यः ।
 आनयनं कोपमानः हन्तव्यः बन्धितव्यश्च ॥१६॥

चप्पा (नगरी में स्वर्णकार) कुमारनन्दी, पञ्चशैलद्वीप पर स्थविर द्वारा ले जाना, बटवृक्ष पर बसेरा, भारण्ड पक्षी के पैरों से स्वयं को बांधकर पञ्चशैल पहुंचना, श्रावक नागिल (द्वारा मना करना), इङ्गिनीमरण (द्वारा शरीर-त्याग) (पञ्चशैल पर विद्युन्माली यक्ष रूप में) उत्पन्न, (पठह गले में बांधकर बजाता हुआ) नन्दीश्वर गमन, (श्रावक नागिल द्वारा) बोध पाकर महावीर प्रतिमा निर्मित कराकर उपासना, राजा उदायन (के पास देवाधिदेव की प्रतिमा कराने का निवेदन), रानी प्रभावती के प्रहार से दासी देवदत्ता का वध, (प्रायश्चित्तवश) मरण के पश्चात् देवलोक में उत्पन्न, तपस्वी वेश में (राजा उदायन को उद्घोषन), अलौकिक फल के बहाने) भयब्दर (जिनेतर साधुओं के घास ले जाना), जैन श्रमण द्वारा उद्बोधन, गान्धार (जनपद से मुमुक्षु श्रावक का वैताढ्यगिरि (गमन एवं उपवास), देवता द्वारा (सन्तुष्ट हो स्वर्ण प्रतिमा और गुलिकायें देना, (महावीर प्रतिमा की बन्दना हेतु आना), ग्लान—अस्वस्थ हो जाने पर (दासी द्वारा) परिचर्या (से प्रसन्न श्रावक द्वारा प्रदत्त गुटिका से दासी का रूपवती बनना व राजा प्रद्योत की कामना),

खद्वाऽदाणियगेहे पायस ददूण चेडरुवाङ् ।
 पियरो भासण खीरे जाइय लद्धे य तेणा उ ॥१७॥
 पायसहरणं छेत्ता पच्चागय दमक असियए सीसं ।
 भाउय सेणाबति खिंसणा य सरणागतो जाथ ॥१८॥
 वाओदएण राई णासइ कालेण सिगय पुढबीणं ।
 णासइ उदगस्स सती, पच्चयरती उ जा सेलो ॥१९॥

ऋद्धयादानिकस्य गृहे, पायसं इष्टवा चेटरुपाणि ।
 पितरं भाषणं क्षीरं, याचितः रद्धश्च तेन तु ॥१७॥
 पायसहरणं छित्वा प्रत्यागत द्रमकः असिना शीर्षम् ।
 भाता सेनापतिः खिंसना च शरणागतो यत्र ॥१८॥
 वातोदकैः राजिः नश्यति कालेन सिकतापृथ्वीनाम् ।
 नश्यति उदके सति, पर्वतराजिः तु यस्त् शैलः ॥१९॥

प्रद्योत द्वारा (प्रतिमा सहित दासी) हरण, (उदायन और प्रद्योत के मध्य) भयद्वार युद्ध, (पराजित प्रद्योत को बन्दी बनाना, पर्युषणा के दिन बन्दी राजा प्रद्योत द्वारा कहना) 'आज मेरा उपवास है', (बन्दी बनाते समय उसके मस्तक पर अङ्कित) दासी पति के स्थान पर सुर्वर्णपट्ट बाँध देने से) पट्टबद्ध राजा हो गया, जिस प्रकार घर पर उपस्थित को क्षमा कर देता है, उसी प्रकार क्रोधित होकर हनन और बन्धन नहीं करना चाहिए। १३-१६॥

समृद्ध व्यक्ति के घर में क्षीरान्न देखकर नौकर रूप द्रमक के पुत्र द्वारा, पिता से क्षीरान्न खाने के लिए कहना, माँगने पर उस (पिता के द्वारा) प्राप्त किया गया। चोरों द्वारा क्षीरान्न हरण, (तृण-पूल आदि काटकर) वापस लौटा हुआ द्रमक (चोरों के सेनापति का) सिर काट लेता है। (सेनापति का) भाई सेनापति नियुक्त किया गया, (सेनापति की मृत्यु का प्रतिशोध न लेने पर आत्मीय जनों का) कुपित होना, (सेनापति द्वारा द्रमक को बाँधना, उससे पूछने पर कि उसे किस प्रकार मारा जाय द्रमक कहता है) जिस प्रकार शरणागत को (मारा जाता है)। १७-१८॥

बालू में (खींची गई) लकीर हवा और जल से नष्ट हो जाती है, पृथ्वी में (शरद ऋतु में) पड़ी हुई दरार वर्षा होने पर नष्ट हो जाती है, परन्तु पर्वत में पड़ी हुई दरार शैल (की स्थिति) पर्यन्त बनी रहती है। १९॥

उदय सरिच्छा पविष्टेण उवेति च उमासिएण सिगथसमा।
 वरिसेण पुढिविराई आभरणगतीड पडिलोमा ॥१००॥
 सेलटु थंभ दारुय लया य बंसी य मिंडगोमृत्तं ।
 अबलेहणीया किमिराग कहम कुसुंभय हलिहा ॥१०१॥
 एमेव थंभकेयण, अत्थेसु प्रस्तुषणा गईओ य ।
 मरुय उच्चंकारिय पंडरज्ज मंगू य आहरणा ॥१०२॥

उदकसदृशः पक्षेणापैति चातुर्मासिकेन सिकतासमा ।
 खंभेण पूर्विवीर्ताओः आभरण गतधस्तु प्रतिलोमाः ॥१००॥
 शैलोऽस्थि स्तम्भः दारुक लता य बंशश्च मेंडगोमूत्रम् ॥१०१॥
 एवमेव स्तम्भकेतनेन व्यस्तेषु प्रस्तुषणा गतयश्च ।
 मरुत् अत्यहङ्कारिता पाण्डुरार्या मङ्गू य आहरणाः ॥१०२॥

जो क्रोध जल में खींची रेखा सदृश एक पक्ष में नष्ट हो जाता है, बालू में (खींची रेखा) सदृश चार मास में उपशान्त हो जाता है, पृथ्वी में पड़ी दरार के समान एक वर्ष में समाप्त हो जाता है। (जिसप्रकार पर्वत में पड़ी रेखा कभी नहीं पिटती उसीप्रकार जीवन पर्यन्त यह क्रोध नहीं) शान्त होता है। गति की दृष्टि से इनका सङ्कलन प्रतिलोम अर्थात् विपर्यय क्रम से होना चाहिए। (कषाय प्रथम-गतिचतुर्थ, संज्वलन कषायी-देवगति, प्रत्याख्यानकषायी-मनुष्य गति, अप्रत्याख्यानकषायी-तिर्यक्षगति और अनन्तानुबन्धी कषायी-नरकगति को प्राप्त होता है) ॥१००॥

मान पर्वत स्तम्भ, अस्थिस्तम्भ, काष्ठस्तम्भ और लता समान होता है। माया कषाय जैसे बाँस की जड़ (जिसका टेढ़ापन दूर होना अतिदुष्कर) भेड़े की सींग-दुष्कर गोमूत्र-सरल और बाँस का छिलका अतिसरल है। लोभकषाय जैसे कृमिराग सदृश लोभ (दूर होना असम्भव), कर्दमराग सदृश लोभ (दूर होना दुष्कर) पुष्पराग सदृश लोभ (दूर होना सरल) जैसे हल्दी का रङ्ग दूर होना (अति सरल) ॥१०१॥

इसीप्रकार स्तम्भ, वक्रता और वस्त्रों में गतियों की प्रस्तुषणा की गई है और कषायों के निरूपण में मरुत्, अत्यहङ्कारिणी भट्ठा, पाण्डुरार्या और मङ्गू का दृष्टान्त दिया गया है ॥१०२॥

अबहंत गोण मरुए चउणह कप्पा उक्करो उवरि ।
 छोडुं मए सुवद्वाऽतिकोवे णो देमो पच्छित्तं ॥१०३॥
 वणिथूयाऽच्यंकारिय भट्टा अद्वसुयमग्गओ जाया ।
 खरग पडिसेह सचिवे, अणुयत्तीह पवाणं च ॥१०४॥
 णिवचिंत विगालपडिच्छणा य दारं न देमि निष्ककहणा ।
 खिसा णिसि निगमणं चोरा सेणावई गहणं ॥१०५॥
 नेच्छड जलूगवेज्जगगहण तम्य य अणिच्छमाणम्य ।
 गाहावड जलूगा धणभाउग कहण मोवणया ॥१०६॥

अबधीत् गां मरुत् चतुष्कवप्राणां उत्करः उपरि ।
 सोङुं पया सुस्पृष्टाऽतिकोपे न ददामि प्रायश्चित्तम् ॥१०३॥
 वणिगदुहिताऽत्यहट्टारिता भट्टा अष्टसुताग्रतः जाता ।
 खरकप्रतिषेधः सचिवे अनुवृत्तिभिः प्रदानं च ॥१०४॥
 नृपथिन्ता विकालप्रतीक्षणं च द्वारं न ददामि नृपकथनात् ।
 खिसा (नित्ता) निशि निर्गमनं चौराः सेनापतिः ग्रहणम् ॥१०५॥
 नेच्छति जलौका वैद्यकग्रहणं तस्मिन् च अनिच्छन्ती ।
 ग्राहयति जलौका धनभातुकः कथनं मोचनम् ॥१०६॥

मरुत् ने बैल का वध किया, चार खेतों की मिट्ठी के द्वेर से मारने पर वह मर गया, उसके मर जाने पर भी वह अत्यधिक क्रोध में स्थित रहा, (प्रायश्चित्त माँगने पर) प्रायश्चित्त नहीं देंगे— (ऐसा कहा गया) ॥१०३॥

आठ पुत्रों के पश्चात् उत्पन्न रुई अत्यहट्टारिणी वणिकपुत्री भट्टा के बरों को (उद्दण्डता करने पर भी भत्सना न करने वाले को देने की इच्छा वाले पिता द्वारा) अस्वीकार कर दिया गया। अमात्य द्वारा (शर्त) स्वीकार करने पर भट्टा प्रदत्त, यज्यकार्य के कारण (अमात्य का) कुसमय घर लौटना, भट्टा द्वारा प्रतीक्षा, (भट्टा के द्वार खोलने से मना करने पर समय से आना), राजाशा से अमात्य के लौटने में किलम्ब, (द्वार न खोलने पर सचिव द्वारा भत्सना), रुष भट्टा का रात्रि में ही घर से निकल जाना, बोरों द्वारा चोर सेनापति (के पास ले जाना), सेनापति द्वारा पली बनाने की इच्छा, भट्टा का न चाहना, सेनापति द्वारा जलूक वैद्य को विक्रय, उसको भी न चाहना, (जलूक वैद्य जलूकों को) पकड़वाता था। धन देकर भट्टा के भाई द्वारा उसे मुक्त किया गया। उसके घर में

सवगुणसहस्र पागं, वणभेषजं चतीसु जायणता।
 तिक्खुत दासीभिंदण ण य कोष सयं पदाणं च ॥१०७॥
 पासत्यं पंडरज्जा परिण्ण गुरुमूल णाथ अभिओगा।
 पृच्छति य यडिककमणे, पुञ्चल्पासा चउत्थामि ॥१०८॥
 अपडिककम सोहम्पे अभिओगो देवि सकृतोसरणं।
 हस्तिणि वायणिसगो गौतमपृच्छा य वागरण ॥१०९॥

शतगुणसहस्रपाकं ब्रणभैषज्यं चतये याचना।
 त्रिः दासिभेदनं न च कोषः स्वयं प्रदानं च ॥१०७॥
 पाश्वस्था पाण्डुरार्था परिज्ञाय गुरुमूलं ज्ञाताभियोगा।
 पृच्छति च प्रतिक्रमणे पूर्वाभ्यासा चतुर्थाम् ॥१०८॥
 अप्रतिक्रमः सौधार्मे अभियोगा देवी शक्रावसरणम्।
 हस्तिनी वातनिसगो गौतमपृच्छा च व्याकरणम् ॥१०९॥

सैकड़ों प्रकार के भैषज तेल थे, साथु द्वारा माँगे जाने पर (दासी को आदेश), दासी द्वारा तीन बार पात्र तोड़ देने पर भी उसका कुप्रित न होना, बल्कि स्वयं प्रदान करना ॥१०४-१०७॥।

शिथिलाचारिणी पाण्डुरार्था (सदा शेतकर्खधारिणी होने से प्रदत्त नाम) को उसके माँगने पर गुरु द्वारा भक्त प्रत्याख्यान दिया गया। (विद्यमन्त्र के बल से पाण्डुरार्था के आहान करने से लोगों के आने पर) गुरु द्वारा प्रतिक्रमण के समय तीन बार कारण पूछने पर आहान की बात स्वीकार करती है, परन्तु चौथी बार पूछने पर कहती है कि पहले के अभ्यास के कारण आते हैं। प्रतिक्रमण न करने के कारण स्थिर आने पर पाण्डुरार्था सौधार्मकल्प में ऐरावत की अग्रमहिषी हुई। समवसरण में भगवान् के आगे स्थित होकर उसके उच्च स्वर करने पर, गौतम द्वारा पूछने पर (भगवान् महावीर द्वारा इस कथा का) व्याख्यान किया जाता है ॥१०८-१०९॥।

महुरा मंगू आगम बहुमुद्य वेरगग सङ्कृप्याय ।
 सातादिलोभ णितिए, मरणे जीहा य णिद्वमणे ॥११०॥
 अब्द्युपगत गतवेरे, णाड गिहिणो वि मा हु अहिगरणी।
 कुज्जा हु कसाए वा अविगडितफलं च सिं सोउं ॥१११॥
 घच्छते बहुपाणो कालो बलितो चिरं तु ठायब्बं ।
 राघुलग संजयताते छगिणं लहरा णिद्वेहरव्वो ॥११२॥

मथुरा मङ्गुः आगमबहुश्रुतः वैराग्यं श्राद्धपूजाय ।
 सातादिलोभः नीत्या, मरणे जिह्वा च निष्मने ॥११०॥
 अभ्युपगतः गतवैरः, ज्ञातुं यही अपि मा खलु अधिकरणम्।
 कुर्यात् खलु कषाये वा अविगणितफलं च संओतुम् ॥१११॥
 प्रायश्चित्तो बहुप्राणः कालः बलितः चिरं तु स्थातव्यम् ।
 स्वाध्यायसंब्रमतपांसि धनितम् आत्मा नियोजयितव्यम् ॥११२॥

आर्यमङ्गु (विहार करते हुए) मथुरा गये, आगम बहुश्रुत एवं वैराग्ययुक्त होने से लोग श्रद्धा से पूजा करते थे, सातादि लोभ के कारण (वे विहार नहीं करते थे), नियमतः (शेष साधु विहार किये), श्रमणाचार की विराधना के कारण वे परकर (व्यन्तर हुए, साधुओं के उस प्रदेश से निर्गमन करने पर यक्ष प्रतिमा में प्रविष्ट होकर) जिह्वादि निकालकर (अपने यक्ष होने का वृत्तान्त बताकर लोभ कषाय न करने का उपदेश देते थे) ॥११०॥

कषाय-दोषों को जानकर, वैर त्यागकर, गृहस्थों के प्रति भी अधिकरण नहीं करना चाहिए अथवा कषायों के परिणाम का विचार किये बिना कषाय भी नहीं करना चाहिए ॥१११॥

(ऋतुबद्धकाल के आठ महीनों में प्रायश्चित न कर पाने के कारण सञ्चित) प्रायश्चित के लिए, वर्षा ऋतु में पृथ्वी के बहुप्राणों वाली होने के कारण तथा प्रायश्चित ग्रहण करने की दृष्टि से अनुकूल काल होने के कारण, (एक स्थान पर) दीर्घकाल तक वास करना चाहिए। आत्मा को सद्ध्यान, संयम और तप में भलीभाँत योजित करना चाहिए ॥११२॥

पुरिमचरिमाण कप्पो मंगल्लं वद्दमाणतित्थंभि ।
 इह परिकहिया जिण-गणहराङ्गेरावलि चरित्तं ॥११३॥
 सुत्ते जहा निबद्धं वग्धारिय भत्त-पाण अग्गहणे ।
 णाणट्टी तवस्सी अणहियासि वग्धारिए गहणं ॥११४॥
 संजमखेत्तचुयाणं णाणट्टि-तवस्सि-अणहियासाणं।
 आसज्ज भिक्खुकालं, उत्तरकरणेण जतियव्वं ॥११५॥
 उणिणयवासाकप्पो लाउयपायं च लब्धमए जत्थ ।
 सज्जाएसणसोही वरिसति काले य तं खित्तं ॥११६॥

पूर्वचरपयोः कल्पः माङ्गल्यं वर्धमानतीर्थे ।
 इह परिकथिता जिनगणधरास्थविरावलिः चारित्रम् ॥११३॥
 सूत्रे वथानिबद्धं प्रलम्बितभत्तपानउग्रहणे ।
 ज्ञानार्थी तपस्वी अनध्यासी प्रलम्बिते ग्रहणम् ॥११४॥
 संयमक्षेत्रच्युतानां ज्ञानार्थी-तपस्थि-अनध्यासिनाम् ।
 आसाश भिक्षाकालं उत्तरकरणेन यंतितव्यम् ॥११५॥
 और्णिंकं वर्षाकल्पं अलावूपाश्रं च लभ्यते यत्र ।
 स्वाध्यायैषणशुद्धिः वर्षति काले च तत् क्षेत्रम् ॥११६॥

प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कुर के समय में कल्प अर्थात् वर्षावास उत्तरतम होता है, (मध्य के तीर्थङ्कुरों के समय वर्षावास विकल्प से होता है), कल्पाण के लिए वर्धमान तीर्थ में जिनों का चरित्र और गणधरों की स्थविरावली वर्णित है ॥११३॥

जिस प्रकार कल्पसूत्र में अनवरत वर्षा होने पर भत्त-पान का अग्रहण वर्णित है, ज्ञानार्थी, तपस्वी और (भूख सहन करने में) असमर्थ को (अनवरत वर्षा में) भिक्षा ग्रहण का कथन है ॥११४॥

संयम क्षेत्र का त्याग किये हुए, ज्ञानार्थी, तपस्वी और (भूख को) सहन न कर सकने वाले साधु को (निरन्तर वर्षा होते रहने पर) भिक्षाकाल आने पर हाथ से छक्कर भिक्षा माँगनी चाहिए ॥११५॥

पुञ्चाहीयं नासङ्, नवं च उतो अपच्चलो घेतुं ।
 खमगस्स य पारणाए वरिसति असहू च बालादि ॥१२७॥
 बाले सुते सुई कुडसीसग छत्ताए अपच्छिमए ।
 णाणटु तवस्सी अणहियासि अह उत्तरविसेसो ॥११८॥
 ॥ पञ्चोसमणा कप्पनिर्युक्ति सम्पत्ता ॥१९॥

॥१९॥ नवममोहनीयाध्ययननिर्युक्तिः ॥

नामं उवणा मोहो द्रव्ये भावे य होति बोधव्यो ।
 ठाणं पुञ्चुदिणं परगयं पुण भावठाणेण ॥११९॥

पूर्वाधीत नश्यति, नवं च बुभुक्षितः अप्रत्यलः ग्रहीतुम् ।
 क्षमेकस्य च पारणाया वर्षति असहा: च बालादिः ॥११७॥
 बालः सूत्रं शुचिः कुटशीर्षक छत्रेण अपश्चिमेन ।
 ज्ञानार्थी तपस्वी अनध्यासी अथ उत्तरविशेषः ॥११८॥
 नामस्थापना मोहो द्रव्ये भावे च भवति बोधव्यः ।
 स्थानं पूर्वोदिणं प्रकृतं पुनः भावस्थानेन ॥११९॥

कुष्ठा को सहन न कर सकने वाले का पूर्व में अध्ययन किया हुआ नष्ट हो जाता है, वह नये विषय को भ्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। तपस्वी व्रत के उपरान्त पारण करने वाले बालादि वर्षा होने पर भूख को सहने में असमर्थ हैं। ॥११७॥

यदि ऊन निर्मित (वस्त है तो उससे सिर ढककर भ्रमण करते हैं) नहीं तो केश निर्मित, सूत्र निर्मित, ताडपत्र, बांस की बनी हुई सिरत्राण और अन्ततः छव से (सिर ढककर) भ्रमण करते हैं। ज्ञानार्थी, तपस्वी और भूख न सहन करने वाले के लिए प्रधान और विशेष रूप से उत्तरकरण कहा गया है। ॥११८॥

मोह, नाम, स्थापना, द्रव्य और भावपूर्वक होता है (यह) जानना चाहिए। (इसका) स्थापना या स्थान निषेप की दृष्टि से पूर्व में कथन किया गया है। प्रस्तुत (अध्ययन) में पुनः भावस्थान की दृष्टि से (कथन किया जायगा)। ॥११९॥

दब्वे सचिच्छत्ताती सयणाथणादी दुहा हवड मोहो ।
 ओघेयोगापयडी अणोगपयडी भवे मोहो ॥१२०॥
 अद्विविहंपि य कर्म भणिअं मोहोत्ति जं समासेण ।
 सो पुव्वगए भणिओ तस्य य एगडुआ इणमो ॥१२१॥
 पावे वज्जे वेरे पणगे पंके खुहे असाए य ।
 संगे सल्ले अरए निरए धुत्ते अ एगड्हा ॥१२२॥
 कर्म य किलेसे य समुदाणे खलु तहा मइल्ले य ।
 माइणो अप्पाए अ दुष्परखे तह संपराये य ॥१२३॥

द्रव्ये सचित्तादयः सदनधनादयः द्विधा भवति मोहः ।
 ओघेनैव अहृतिः असेहाकृतिश्च ये गोहः ॥१२०॥
 अष्टविधमपि च कर्म भणितं मोह इति यत्समासेन ।
 स पूर्वगतो भणितः तस्य च एकार्थका एते ॥१२१॥
 पापमवद्यं वैरं शीवालं पङ्कः क्षोभः असातङ्ग ।
 सङ्गः शल्यमरतः निरयः धूर्तश्च एकार्थकाः ॥१२२॥
 कर्म च क्लेशश्च समुदानं तथा मलिनता च ।
 मायिनः आत्मनश्च दुष्प्रक्षः तथा संपरावश्च ॥१२३॥

द्रव्य मोह सचित्तादि (धातु, गो, अन्नादि) और (अचित्त) गृह, धनादि दो प्रकार का होता है। भाव मोह (सङ्गत या सामान्य और विभाग से दो प्रकार का होता है) सङ्गत दृष्टि से एक प्रकृति और (विभाग दृष्टि से) अनेक प्रकृति होता है ॥१२०॥

जो अष्टविध कर्म है वह संक्षेप में मोह कहा गया है, वह (अष्टविध कर्म प्रवाद) पूर्व में कहा जा चुका है उसके एकार्थक ये हैं ॥१२१॥

पाप, अवद्य, वैर, पनक (पङ्क), क्षोभ, असाता (दुःख-पीड़ा), सङ्ग (आसक्ति), शल्य, अरति, निरति और धूर्त एकार्थक हैं। कर्म क्लेश (दुःख या दुःख का कारण-कर्म), समुदान (प्रयोग गृहीत कर्मों को प्रकृति—स्थित्यादि रूप से व्यवस्थित करने वाली क्रिया), दुष्प्रक्ष (दुष्टप्रक्ष), सम्पराय (स्थूल कथाय), असूक्त (निन्दित),

असुते दुहाणुबंधं दुम्मोए खलु चिरद्वितीए य ।
 घणचिक्कणनिष्वेआमोहे य तहा महामोहे ॥१२४॥
 कहिया जिणोहिं लोगो पगासिया भारिया इमे बंधा ।
 साधुगुरुमित्तबंधवसेद्विसेणावडवधेषु य ॥१२५॥
 एत्तो गुरुआसायणजिणबयण विलोबणेषु पडिबंधं ।
 असुहे दुहाण बंधति तेण तो ताइ बजेज्जा ॥१२६॥
 ।। प्रोहणिज्ञास्य निजजुत्ती सम्भा ॥९ ॥

असृते दुःखानुबन्धः दुर्योक्तः खलु चिरस्थितेश्च ।
 घनचिक्कणनीत्रः आमोहश्च तथा भहामोहः ॥१२४॥
 कथिताः जिनैः लोके प्रकाशिताः भारिताः इमे बन्धाः ।
 साधुगुरुमित्रबान्धवश्वेष्विसेनापतिवधेषु च ॥१२५॥
 एतस्मात् गुरुशातनजिनबन्धविलोपनेषु प्रतिबन्धः ।
 अशुभो दुःखानां बन्धाति तेन तु तानि वर्जयेत् ॥१२६॥

दुःखानुबन्ध (दुःख बन्धन या दुःखविपाक), दुर्योक्त (दुःख से छुड़ाने योग्य), चिरस्थितिक (दीर्घकालीन स्थिति वाला), घन (सान्द्र) चिक्कण (स्निध, दुःख से छुड़ाने योग्य) नीत्र (पटल श्रान्त), आमोह तथा महामोह— ये कर्म के एकार्थक हैं ॥१२२-१२४॥

तीर्थद्वारों द्वारा लोक में प्रकट किया गया कि साधु, गुरु, मित्र, बान्धव, श्रेष्ठी और सेनापति का वध गुरुवध या महावध है ॥१२५॥

गुरु की आशातना (अर्थात् अवज्ञा) और जिन बचनों के विलोपन का परित्याग करना चाहिए क्योंकि इनसे अन्तराय होता है और अशुभ (कर्मों) और दुःखों का बन्ध होता है ॥१२६॥

॥१०॥ दशम नवपापनिदानस्थानाध्ययननिर्युक्तिः ॥

णामं ठवणा जाई दब्बे भावे च होइ बोधब्बा ।
 ठाणं पुङ्कुहिंडुं पगर्यं पुणं भावट्टाणोणं ॥१२७॥
 दब्बं दब्बसभावो भावों अणुभवणओहतो दुःखिहों।
 अणुभवण छलिहो उहओ उ संसारिओ जीवो ॥१२८॥
 जाती आजातीया पच्चाजातीय होइ बोधब्बा ।
 जाती संसारत्था मासो जाती जन्ममन्नयरं ॥१२९॥

नाम स्थापना जातिः द्रव्ये भावे च भवति बोधब्बम् ।
 स्थानं पूर्वोद्दिष्टं प्रकृतं पुनः भावस्थानेन ॥१२७॥
 द्रव्यं द्रव्यस्वभावो भावो अनुभवनओहतो द्विविधः ।
 अनुभवनो षड्खिधः ओहतस्तु सांसारिको जीवः ॥१२८॥
 जातिराजातिश्च प्रत्याजातिः भवति बोधब्बा ।
 जातिः संसारस्थाना असी आजातिः जन्मान्तरम् ॥१२९॥

का स्तरम्

निशेष से

(निशेष की दृष्टि से) जाति या उत्पत्ति नाम, स्थापना, दृष्टि और भावपूर्वक सेवी उत्पत्ति से (यह) जानना चाहिए। स्थान निशेष की दृष्टि से पूर्व में कथन किया गया है। प्रस्तुत (अध्ययन में भाव स्थान की दृष्टि से) जाति का कथन किया जायगा ॥१२७॥

१ द्रव्यदृष्टि से (जाति या उत्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति हुए) द्रव्य का स्वभाव, भाव दृष्टि से उत्पत्ति अनुभवन (अर्थात् निदान कृत कर्म फल का भोग) और सामान्य दो प्रकार की होती है। अनुभवन छः प्रकार का होता है और सामान्य उत्पत्ति सांसारिक जीवों की होती है ॥१२८॥

जाति अर्थात् उत्पत्ति तीन प्रकार की होती है— जाति, आजाति और प्रत्याजाति। सांसारिकों की नरकादि चार गतियों में उत्पत्ति जाति है, सम्युच्छ, अगर्भ, उपपात आदि अन्य प्रकार से जन्म आजाति है ॥१२९॥

द्रव्य निशेष वस्तु के स्वभाव का विवेचन करता है। जो कि भाव-निशेष भावों (अनुभवतिशो) का विवेचन करता है। यह सम्मेव (विशेष भाव) और

जसो चुओ भवाओ तत्ये य पुणोवि जह हवति जम्मं।

सा खलु पच्चायायी मणुस्स तेरिच्छए होइ॥१३०॥

कामं असंजयस्सा णत्यि हु मोक्षे धुबमेव आयाई।

केण विसेसेण पुणो पावइ समणो अणायाई॥१३१॥

मूलगुणउत्तरगुणे अप्पडिसेवी इहे अपडिबद्धो।

भत्तोवहिसयणासणविवित्तसेवी सया पदओ॥१३२॥

तीर्थंकरगुरुसाधु सभ्तिमं हत्यायसंलीणो।

पञ्चसमितो कलहङ्गपिसुणओहाणविरओ अपाएण॥१३३॥

यतश्चयुले गत्वा तत्त्वा युनर्वि द्वावा भवति जन्म।

सा खलु प्रत्याजातिः मनुष्यतिरक्षोः भवति॥१३०॥

कामपसंयतस्य नासिं खलु मोक्षः धुबमेव आयाति।

केन विशेषेण पुनः प्राप्नोति अमणो अनायातिः॥१३१॥

मूलगुणोत्तरगुणायोरप्रतिसेवी इह अप्रतिबद्धः।

भत्तोपधिशयनासनविवित्तसेवी सदा प्रयततः॥१३२॥

तीर्थङ्गरुदुरुसाधु भक्तिमान् हस्तपादसंल्लीनः।

पञ्चसमितः कलहविवादपिशुनावथानविरतश्च प्रायेण॥१३३॥

जिस भव से च्युत हुआ है उसी भव में जब मुनर्जन्म होता है वह प्रत्याजाति है, यह मनुष्य और तिर्थक की होती है॥१३०॥

विषयाभिलाषी और असंयतको मोक्षलही होता है। इनकी निश्चित रूप से आयाति अर्थात् उत्पत्ति है। पुनः किस विशेषणे से श्रमण अनायाति अर्थात् संसार-प्रमण से मुक्ति पाता है॥१३१॥ , जैवि प्राप्ति उत्पत्ति है।

जो मूलगुण और उत्तरगुणों को दूषित नहीं करता है, इह लोक अर्थात् संसार में आसक्तिरहित होकर रहता है, जो भक्त-उपदि[और शाव्यासन में (सदा सुखना)-जीव एकान्त का सेवन करता है एवं सदा अप्रमत्त रहता है, वह श्रमण मोक्षपद पाता है॥१३२॥।

तीर्थङ्गरों, गुरुओं और साधुओं में भक्तियुक्त, हस्त-पाद अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने वाला, पञ्चसमितियों वाला, कलह, झगड़ा लगाना और परनिन्दा के चिन्तन से विरत (श्रमण) प्रायः (सिद्ध होता है)॥१३३॥।

पाएण एरिसो सिज्जङ्गइति कोई पुणा आगमेस्साए ।

केण हु दोसेण युणो पावड समणो वि आयाई ॥१३४॥

जाणि भणिआणि सुत्ते तहागएसुं तहा निदाणाणि ।

संदाण निदाण नेयपच्चोति य होति एगद्वा ॥१३५॥

दब्बप्पओगवीससप्पओगसमूलउत्तरे चेव ।

मूलसरीरसरीरी साती अमणादिओ चेव ॥१३६॥

णिगलादि उत्तरो वीससाड साई अणादिओ चेव ।

खेतम्मि जम्मि खेते काले कालो जहिं जो उ ॥१३७॥

प्रायेण ईदृशः सिथ्यति इति कक्षित् पुनरागमिथ्यति ।

केन खलु दोषेण पुनः प्राप्नोति श्रमणोऽपि आयातिम् ॥१३४॥

यानि भणितानि सूत्रे तथागतेषु तथा निदानानि ।

संदानं निदानं निजप्रत्यय इति च भवन्ति एकार्थाः ॥१३५॥

द्रव्यप्रयोगविस्त्रसप्रयोगसमूलउत्तराणि चैव ।

मूलशरीराशरीरी सादिमनस्कादिश्चैव ॥१३६॥

नूपुरादि उत्तरो विस्त्रसा तु सादिः अनादिकश्चैव ।

क्षेत्रे यस्मिन् क्षेत्रे काले यस्मिन् कालः यस्तु ॥१३७॥

प्रायः (ऊपर वर्णित) इस प्रकार के साथ सिद्धि पाते हैं कोई पुनः संसार-ग्रहण भी करते हैं। पुनः किस दोष से श्रमण उत्पन्न होता है? ॥१३४॥

— मूल (दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र) में तथागतों (तीर्थद्वारों) द्वारा कथित चिकित्सा है (उनको करने वाला पुनः अनुत्तम है), सन्दान (अवलम्बन) सेनेज्ञालोग निदान और आत्म-निश्चय — ये एकार्थीक हैं ॥१३५॥

द्रव्यबन्ध (दो प्रकार का) प्रयोग बन्ध और विस्त्रसा बन्ध प्रयोग बन्ध मूल और उत्तर बन्ध (दो प्रकार)। मूल बन्ध भी दो प्रकार का होता है—सारीस्क-आंतरिक अस्त्रास्त्रिक मनादि से अन्य ॥१३६॥ शारीर-शारीरी (दृढ़ और अंतर्मन) का दृष्टि यह भी स्त्रादि और उत्तर का है।

णिगल—नूपुर या वेणी आदि उत्तर बन्ध हैं, विस्त्रसा बन्ध (दो प्रकार का होता है)— सादिक विस्त्रसाबन्ध और अनादिक विस्त्रसाबन्ध। क्षेत्र की दृष्टि से बन्ध का अर्थ है जिस क्षेत्र में और काल की दृष्टि से अर्थ है जिस काल में बन्ध हो ॥१३७॥

दुविहो अ भावबन्धो जीवमजीवे अ होइ बोधब्बो ।
एककेककोवि तिविहो विवागअविवागतदुभयगो ॥१३८॥
भासे क्षसायबन्धो अहिगारो बज्जुविहेसु अत्थेसु ।
इहलोगपारलोगिय पगयं परलोगिए बन्धे ॥१३९॥
पावड धुवमायाति निआणदोसेणु उज्जमंतोवि ।
विणिवायंपि य पावड तम्हा अनियाणता सेआ ॥१४०॥
अपासत्थाए अकुसीलयाए अक्षसायअप्पमाए य ।
अणिदाणयाइ साहु संसारमहश्च तरई ॥१४१॥

।।निज्जुरी सम्पत्ता ।।

द्विविष्ट भावबन्धो जीवाजीवी च भवति बोधव्यः ।
एकैकमपि त्रिविधो विपाकाविपाकतदुभयात्मकः ॥१३८॥
भावे कषायबन्धोऽधिकारो बहुविषेषु अर्थेषु ।
इहलोकपारलौकिकं प्रकृतं पारलौकिके बन्धे ॥१३९॥
प्राप्नोति धुवमायातिः निदानदोषेण उच्चमवानपि ।
विनिपातपि च प्राप्नोति तस्मादनिदानतः श्रेयसी ॥१४०॥
अपार्श्वस्थत्वेन अकुशीलत्वेन अक्षसायप्रमादाच्च ।
अनिदानकादिभिः साधुः संसारमहार्णवं तरति ॥१४१॥

भाव-बन्ध दो प्रकार का होता है— जीव भावबन्ध और अजीव भावबन्ध, यह जानना चाहिए। प्रत्यक्त तीन-तीन प्रकार का होता है— विपाक से बन्ध, अविपाक से बन्ध और तदुभय अर्थात् विपाकाविपाक से बन्ध ॥१३८॥

भाव (निदान) में क्षाय-बन्ध अधिकार (प्रस्तुत) अनेक विषयों और अर्थों में होता है। यह इहलौकिक और पारलौकिक होता है। प्रस्तुत अध्ययन में पारलौकिक बन्ध का कथन है ॥१३९॥

निदान-दोष के कारण (मोक्षमार्ग में) प्रथमलशील भी श्रमणनिश्चित रूप से ऊत्तिः संसारे द्वारा जन्म प्राप्त करता है, और अधःपतन से निनाश प्राप्त करता है इस कारण निदान न करना श्रेयस्कर है ॥१४०॥

अशिथिलाचारी, शीलवान्, कषायरहित, अप्रमत्त और निदान न करने वाला साधु संसार रूपी महासागर को पार करता है ॥१४१॥

।।निर्युक्ति समाप्ता ।।

गाथानुक्रमणिका

आद्यांश

	गाथा सं०
अद्विहेपि य कम्मं भणिअं	१२१
अपडि । म सोहम्मे अभिओगा	१०९
अपासत्याए अकुसीलयाए	१४१
अप्पिणह तं बइल्लं	९२
अब्मुवगत गतवेरे	१११
अवराहम्मि य पयणुए	१३
अवहंत गोण मरुए चउणह	१०३
असमाहि य सबलतं	७
असिवाइ कारणेहि अहवा	६६
असिवे ओमोयरिए राया	७४
असुते दुहाणुबंधं दुम्मोए	१२४
आउ विवागज्ज्ञयणाणि	२
आयारभिमि अहीए जं नाओ	२७
आयारे बायाला पडिमा	४६
आओढपुणिमाए	६३
आसायणाओ दुविहा	१५
इय सत्तरी जहण्णा असीति	६८
इरिएसण भासाणो मण वयसा	८७
ठच्चार पासवण खेलमत्तए	८४
उद्गमहे तिरियम्मि य	७६
उणाइरित अद्वि विहरिऊण	५८
उणिणय वासाकणो लाउयपायं	११६
उदय सरिच्छा पक्खेणुवेति	१००
उभओ वि अद्वजोयण	७५

ऊणाइरित मासा एवं थेरण	६२
एगबहल्ला भंडी पासह	९१
एत्य तु अणभिग्गहियं	६५
एत्य तु पणगं पणगं	६७
एत्तो गुरुआसायण	१२६
एमेव थंभकेवण	१०२
एवं च सुयसमाधिपङ्किमा	४७
ओदइयाईयाणं भावाणं	५५
कम्मे य किलेसे य समुदाणे	१२३
कहिया जियोहि लोगो	१२५
काईय भूमी संथारए य	७१
काऊण भासकप्पं तत्येव उवागयाण	५९
काऊण मासकप्पं तत्येव ठियाण	६९
कामं असंजयस्सा णत्यि	१३१
कामं तु निरवसेसं	३८
कामं तु सञ्चकालं पंचसु	८८
कामं दुवालसंगं	३६
कारणओ उहुगहिते उज्जित्तुण	८३
कालो समयादीओ पगयं	५७
कुप्पवयणं कुधम्मं उवासए	३४
खद्दाऽऽदाणियगेहे पायस	९७
गणसंगहुवग्गहकारओ	२८
गंधार गिरी देवय	९५
चंपाकुमारनंदी पंचउच्छर	९३
छड्हमपुष्टेसुं	१८
जइ अतिथ पयविहारो	७०
जह ता गिहिणो दि य	४२
जह गयकुल धूओ	३०
जाइ भणिआइं सुते	२३
जाणि भणिआणि सुते तहागएसुं	१३५
जाणि भणिआणि सुते ताणि	२१

जाती आजातीया	१२९
जत्तो चुओ भवाओ	१३०
ठवणाए निकखेनो छक्को	५४
डहरीओ उ इमाओ अज्जयणेसु	५
डहरीओ उ इमाओ निज्जूङाओ	६
णाम ठवणा जाई दब्बे	१२७
णिगलादि उतरे	१३७
णिवचिंत विगाल पडिछुणा	१०५
तह पवयण भत्तिगओ	३१
तत्थिहिगलो नु नुहे नाहे	४१
तिष्ण दुखे एकका वा	७७
तित्यंकरगुरुसाहसुभत्तिम	१३३
तो ते सावग तम्हा	३७
दगष्टु तिनि सत्त व	७८
ददसम्मतचरिते पेधावि	५०
दब्बटुवणाऽऽहारे विगई	७९
दब्बतदट्टो वा	३२
दब्बतदट्टो वा	३३
दब्बप्पओगबीसस्स	१३६
दब्बे चित्तलगोणाइएसु	१२
दब्बे भावे य सरीरसंपया	२९
दब्बंमि सचित्तादी संज्ञपडिमा	३९
दब्बे सचित्ताती	१२०
दब्बे जेण व दब्बेण	९
दब्बे दब्बसभावो भावो	१२८
दब्बे माणुम्माण	१७
दब्बंसरीरभविओ	२५
दसआओ विवागदसानामेहि	४
दसाण पिंडत्थो	८
दासो दासीबत्तितो छताडिय	१६
दुविहो अ भाव बंधो	१३८

दंसणनाणचरितं	२२
दंसणवयसामाइय	४३
धुवलोओ उ जिणाणं णिच्चं	८५
न करेइ दुक्खमोक्खं	२०
नेच्छइ जलूगवेज्जग	१०६
नामं ठवणा दधिए	१०
नामं ठवणा मोहो दब्बे	११९
नायं गणिअं गुणिअं	२६
पच्छते वाहुपाणो कालो	११२
पज्जोसमणाए अवखराई	५२
पडिमापडिवन्नाणं एगाहं	६१
परिचिअकालामंतणखामण	५१
परिवसणा पज्जुसणा	५३
पसत्य किंगईगहणं	८२
पाएण एरिसो सिज्जाइति	१३४
पायसहरणं छेता पच्चागय	९८
पावइ धुवमायाति	१४०
पावे वज्जे देरे पणगे	१२२
पासत्य पंहरउआ परिण	१०८
पुञ्चाहारोसवण जोग विवङ्गीय	८०
पुञ्चाहीय नासङ्ग	११७
पुरिमचरिमाण कप्पो	११३
बाले सुते सुई कुडसीसग	११८
बाला मंदा किञ्चु	३
बाहिं ठित्तिवसभेहि	६४
बोहण पडिमा उदयण	९४
भावे कसायबन्धो अहिगारो	१३९
भावे उ सम्मदिष्टी	३५
भासणे संपाइमवहो दुण्णोओ	८९
भिक्खूणं उवहाणे पगयं	४४
भिक्खूणं उवहाणे उवासगाणं	८

मणवयणकायगुलो	१०
महुरा मंगू आगम बहुसुय	११०
मिच्छा पङ्गिवतीए	१९
मूलगुणउत्तरगुणे अप्पडिसेवी	१३२
मोतुं पुराण भावियसङ्क्षे	८६
राया सप्पे कुंथु अगणि	७२
बणिधूयाऽच्चकरिय	१०४
वाओदण्ण राई पासइ	९९
बालेराई दाली	१४
बासाखेत्तालभे अद्धाणा	६०
बासं व न ओरमई	७३
विगतिं विगतीभीओ विगडगयं	८१
बोसंतु णवरिणेम्म	११
वंदामि भद्रबाहुं पाईणं	१
संजमखेत्तचुयाणं पाणट्टि	११५
समाहिओवहाणे य	४५
सयगुणसहस्स पागं	१०७
सा दुविहा छविगुणा	४०
सामित्ते करणिम्म य	५६
साहू तेणे ओगगह कंतार	१६
सुते जहा निबद्धं वम्बारिय	११४
सेलट्टि थंभ दारुय लया	१०१
सोइंदियमादिआ पदिसंलीणया	४९
सो गुरुमासायंतो	२४

शब्दानुक्रमणिका

आ

अइरेगाइ (अतिरेकानि) अतिशाय	११
अइकमे (अतिकमे) नियम-उल्लङ्घन	१२
अकुसीलयाए (अकुशीलत्वेन) शीलवान	१४१
अच्चंकारिय (अत्यहङ्कारित) अत्यहङ्कारित	१०२, १०४
अज्जयणेसु (अध्ययनेषु) अध्ययनों में	५
अट्टविहं (अष्टविधं) आठ प्रकार का	१२
अट्टसुखमग्गओ (अष्टसुखमग्नतः) आठ पुत्रों के पश्चात्	१०४
अणहियासि (अनध्यासिन्) सहन नहीं करने वाला	११४, ११८
अणायाई (अनायाति) संसार-भ्रमण से मुक्ति	१३१
अणिङ्गु (अनिष्ट) अनिष्ट	१५
अणिदाणयाइ (अनिदानकादिभिः) निदान न करने से	१४१
अणुग्रहहड्डाए (अनुग्रहार्थाय) कृपा-उपकार के लिए	६
अणुभवण (अनुभवनो) कर्मफल भोग	१२८
अणुयतीह (अनुशृतिभिः) अनुकूल किया हुआ	१०४
अतियारे (अतिचारे) नियम का आंशिक भङ्ग	१२
अनियाण्ता (अनिदानता) निदान का अभाव	१४०
अपच्छलो (अप्रत्यलः) असमर्थ, अयोग्य	११७
अपच्छिमए (अपश्चिमेन) अन्तिम द्वारा	११८
अप्पडिक्कम (अप्रतिकर्मन्) संस्कार वर्जित	१०९
अप्पडिबद्धो (अप्रतिबद्ध) आसक्तिरहित	१३२
अपमज्जणे (अप्रमार्जने) बिना प्रमार्जित किये	८९
अपरितंतो (अपरितान्तः) बिना खिन्न हुए	३०
अपासत्याए (अपार्श्वस्थत्वेन) शिथिलाचार रहित द्वारा	१४१
अपेह (अप्रेक्ष्य) देखे बिना	८९
अप्पडिसेवी (अप्रतिसेविन्) नियम-विरुद्ध आचारण नहीं करने वाला	१३२

अप्पमाए (अप्रमादात्) प्रमादरहित होने से	१४१
अप्पिणह (अर्णव) दो	९२
अञ्जुबगत (अभ्युपगत) स्वीकार किया हुआ	१११
अभिओगा (अभियोगः) वशीकरण	१०७-१०८
अमणादिओ (अमनस्कादिकः) मन-आदि से अन्य	१३६-१३७
अबराहम्म (अपराधे) अपराध में	१३
अबलेखनिका (अबलेखनिका) छाँस का छिलका	९३
अवसाण (अवसानं) नाश, अन्त	१०१
अवहंत (अवथत्) वध किया	१०३
अविगड़ितफलं (अविगणित एवं) फल का बिना विचार किये	१११
अवेति (अपेति) नष्ट होना	१००
असंचइए (असञ्चयिक) सञ्चय न करने योग्य	८०
असठभावो (अशठभावः) सरलतापूर्वक	३१
असहू (असहु) असमर्थ, अशक्त	८५, ११७
असियाए (असिना) दाँती से	९८
अहक्कमं (यथाक्रमं) क्रमानुसार	५
अहिगरण (अधिकरण) असंयम, पापकर्म	८७-९०

आ

आइविखआव (आख्यायितः) उक्त, उपदिष्ट	४१
आएसहु (आदिष्ट) आदेश होने पर	८४
आगमेस्साए (आगमिष्यति) आयेगा	१३४
आजातीया (आजातिः) आगमन, उत्पत्ति	१२९
आण (आनयन) लाना	९६
आयाई, आयाति, (आजातिः) उत्पत्ति	१४०
आयारथो (आचारधरः) गणि सम्पदा-विशेष	२७
आरोवण (आरोपणा) प्ररूपणा	७०
आलोए (आलोचयेत्) आलोचना करनी चाहिए	९०
आसज्ज (आसाद्य) प्राप्त कर	११५
आसायणा (आशात्तना) अपमान, तिरस्कार	३, ६, १८, १९, २२
आसायंतो (आशात्यन्) आशात्तना करते हुए	२४

इगिणि (इङ्गिनी) मरण-विशेष	९३
इदपयम (इन्द्रपदं) पर्वत	७६
इरिएसणं (ईर्थेषणा) ईर्या और एषणा समिति	८७
इरियच्चरियासु (ईर्याचर्यासु) ईर्या समिति	८९

उ

उक्करो (उल्करः) समूह	१०३
उक्कोसा (उल्कृष्टः) अधिक से अधिक	६८
उच्चार (मलोत्सर्ग) मल-विसर्जन	८४
उज्जमंतो-माणो (उद्यमशान) प्रथल्य करते हुए	१४०
उज्जाणओ (उद्यानात्) उपवन या बागीचा से	७७
उज्ज्ञाति (उज्ज्ञानित) ल्याग देते हैं	८३
उज्ज्ञाऊण (त्यक्त्वा) परित्याग कर	८३
उहुगहिते (ऋतुगृहीते) ऋतुकाल में ग्रहण किये गये	७८
उहुवासासु (ऋतुवासेषु) ऋतुकाल में	७८
उणाहरित (ऊनातिरित) कम या अधिक	५८
उणिण्य (और्णिक) ऊन निर्मित	११६
उत्तरकरणेण (उत्तरकरणेन) हाथ से ढूँककर	११५
उदगस्स (उदकस्य) जल की	९९
उहिडु (उहिष्ट) साधु के निमित्त निर्मित	४२
उवग्नहकारओ (उपग्नहकारको) उपकारक	२५, २८
उवधाव (उपधात) देव या नारक योनि में जीव की उत्पत्ति	९३
उवहाणे (उपधाने) तपश्चर्या,	४४, ४५, ४८
उवागयाणं (उपागतानां) प्राप्त	५९
उवासए (उपासको) श्रावक	३४, ३५

ऋ

ऋणा (न्यूना) न्यून, हीन	५९, ६१
-------------------------	--------

ए

एगद्विया (एकार्थिकाः) समानार्थक	१२१
एगबइल्ला (एकबलीवदी) एक बैल वाली	९१
एगविहारिस्स (एकलविहारिनः) एकलविहारी के	५९
ओग्रह (अवग्रह) ग्रहण करना	१६

ओदइगाईयाण (औदयिकादिकानो) औदयिकादि भावों का	५५
ओमोवरिए (अवमीदये) कम आहार प्रहण करना	७४
ओरमई (उपरमति) रुकना, निवृत होना,	७३
ओबरई (उपरतिः) विरामस्थान	१०
ओसरण (अपसरण) दूर हट जाना	६७
ओहतो (ओघतः) सामान्य रूप से	१२८
ओहाण (अवधान) उपयोग	१३३

क

कज्जम्पि (काव्ये) कार्य या प्रयोजन	८२
कडग (कटक) पर्वतखण्ड	३०
कतिओ (कार्तिको) कार्तिकमास	६५
कदम (कर्दम) कीचड़	१०१
कम्पासपट्ट (कर्पासपटः) श्वेत सूती वस्त्र	५६
कषायबन्धो (कषायबन्धः) कषायबन्ध	१३७, १३९
काइए (कायिक) शरीरसम्बन्धी	८७
काईयभूमी (कायिकभूमिः) जीवों से युक्त भूमि	६९
कायगुतो (कायगुप्तः) कायगुप्ति	९०
कारगमिसि (कारकमृष्टिः) कर्ता ऋषि	१
कारणियं (कारणिकं) प्रयोजन से किथा जाना	६७
किमिराग (कृमिराग) किरमिजी रस	१०१
कुंयू (कुन्यु) एक क्षुद्र जन्म	७२
कुडसीसग (कुण्डशीषक) बाँस निर्मित सिरवाण	११८
कुप्पवयण (कुप्रवचनं) जिनेतर प्रणीत सिद्धान्त	३४
कुसुंभय (कुसुम्पक) कुसुम का रस	१०१

ख

खंडो (खण्डः) अंश	१४
खंता (क्षन्ता) सहन करने वाले	५०
खढाऽऽदाणिय (ऋढाऽऽदानिक) समृद्ध	९७
खमगस्स (क्षमकस्य) तपस्ची श्रमण	११७
खलहाणे (खलधान्य) खलिहान	९१
खामण (क्षमण) खामाना	५१

खिंसणा (खिंसना) निन्दा	९८
खितं (क्षेत्र) क्षेत्र	९७
खुते (छिद्रः) छिद्र	१४
खुलायारो (क्षुद्राचारः) अधमाचार	१२
खुहे (क्षोभः) क्षोभ	५४, ५६, ७५-७८
खेतद्वा (क्षेत्रकाली) क्षेत्र और काल में	१०
खेतमिम (क्षेत्र) क्षेत्र में	६३, १३७
खेलमत्तए (रलेष्य मात्रक) श्लेष्य के निमित्त	८४
ग	
गंतव्यं, गतव्यं (गन्तव्यं) जाना चाहिए	७०, ६३
गंधारगिरि (गन्धारगिरिः) पर्वत-विशेष	९५
गईओ (गतीनाम्) गतियों की	१०२
गणहर (गणधर) जिनदेव के प्रधान शिष्य	११३
गणि (गणिन्) गण का स्वामी	२७
गतवेरे (गतवैरे) वैरभाव त्याग देने पर	११९
गयकुलभूओ (गजकुलभूतः) गजबंशोत्पन्न	३०
गरहा (गर्ही) निन्दा	८२
गरहिय (गर्हित) निन्दित	९२
ग्राहावै (आह्याते) पकड़वाता हैं	१०६
गाहेतु (गृहीत्वा) पकड़कर	६४
गिर्ह (ग्रीष्म) ऋतु-विशेष गरमी का भौसम	३८
गिलाणे (स्लाने) रुण के	७२
गिहिधर्मं (गृहिधर्मः) गृहस्थधर्म	४१
गुणसमिक्षिओ (गुणसमन्वितः) गुणवुक्त	२५
गुणिअं (गुणितं) मनन किया हुआ	२६
गुरुद्वाणे (गुरुस्थाने) गुरुस्थान पर	२१, २३
गुरुमूल (गुरुमूल) गुरु के समीप	१०८
गुलिया (गुलिका) गुटिका	९५
गेलण्णे (ग्लानत्वे) रोग होने पर	७४
गोण (गौण) गुण-निष्ठत्र	५२

घ

घण (घन) प्रगाढ़, सान्द्र	१२४
घेतुं (गृहीतुं) ग्रहण करने के लिए	११७
घोषणाया (घोषणाया) घोषणा द्वारा	९१

च

चंदपडिमाओ (चन्द्रप्रतिमाः) तप-विशेष	४६
चउण्ह (चतुष्क) चार	१०३
चउत्थम्मि (चतुर्थ्यम्) चतुर्थिका	१०८
चउत्थिया (चातुर्थिका) चौथी	४९
चउमासिएण (चातुर्मासिकेन) चातुर्मासिक	७८
चत्तारि (चत्त्वारि) चार	६२, ६८
चरणेसुं (चरणेषु) चारित्र में	२४
चिक्कण (चिक्कण) निबिड़, घना	१२४
चिक्खल (दे) पङ्क	५९
चित्तल (चित्रल) चितकबरा	१२
चिरद्वितीए (चिरस्थितिके) दीर्घकाल तक रहने वाला	१२४
चुओ (च्युत) एक भव से दूसरे भव में अवतीर्ण	१३०

छ

छबकं (षट्क) छः का समूह	१५, २८
छत्तए (छत्रेण) छत्र द्वारा	११८
छत्तडिय (छत्रस्थित) राजचिह्न-विशेष पर निर्मित	९६
छदिसि (षड्दिक्षु) छः दिशाओं में	७६
छम्मासितो (षण्मासिकः) छः मास का	१२८
छव्विहो (षट्विधः) छः प्रकार का	१२८
छातो (दे) बुधुक्षित	११७
छिण्णमेंडबं (छिन्नमण्डप) जिस गाँव या शहर के समीप दूसरा गाँव	
आदि न हो	९८
छोडुं (सोडुं) सहन करने के लिए	१०३

ज

जंघदे (जङ्घादे) जङ्घे की आधी ऊँचाई	७८
जट्टोगहे (ज्येष्ठावग्रह) चार मास तक एक क्षेत्र का उत्तमवास	५३, ६९

जलूगवेजगा (जलौकसवैद्यक) जुलूकवैद्य	११६
जलूगा (जलौकस) जोक, जन्तुविशेष	१०६
जाई (जाति:) उत्पत्ति	१२७, १२९
जोयण (योजन) परिमाण-विशेष, चार-कोश	१०
जोहे (योष) अङ्गरचना विशेष	१०

झ

झंझा (झंझ) विवाद	१३३
झामणजता (दहन) जलाना	९१

ठ

ठवणा (स्थापना)	१०, ५३, ५५, ११३, १२७
-ए (स्थापनया) स्थापना से	५४, ६४
ठविज्जए (स्थापयेत्) स्थापित करना चाहिए	५५
ठायब्बं (स्थातब्बं) वास करना चाहिए	११३

ड

डज्ज (दग्ध) जला हुआ	९१
डहीहि (दह) जलाओ	९२

ण

णदिसरे (नन्दीधरे) नन्दीचरदीप	९३
णउत्ती (नवति) नव्ये	६८
णयण (नयन) ले जाना	९४
णवरि (केवल) केवल	११
णाणड्ठि (ज्ञानार्थिन) ज्ञानार्थी	११५
णिओतब्बो (नियोक्तव्य:) कार्य में लगाना	११२
णिगल (दे) नूपुर	१२७
णितिए (नीत्या) नीति से	११०
णिवचिंत (नृपचिन्त्य) राज्यकार्य	१०५
णिसि (निशि) रात	१०५

त

तद्डो (तदथो) उपासक विशेष	३२
तर्द्द (तरति) तैरता है	१४१
तायस (तापसः) तपस्यी	९४

	अ	
र्थ (स्तम्भ) स्तम्भ		१०१
थेराण (स्थविरानाम्) स्थविरों का		८५
	द	
दमग (द्रमक) गरीब, ख़ङ्ग		९८
दसआओ (दशाः) दशायें		२,४
दसमीढ (दशम्याः) दशमीतक		६३
दसह (दसधा) दसबार		२
दसुत्तरसयं (दसोत्तरशतं) एक सौ दस		६८
दाली (दे) दाल		
दुच्चरियाई (दुश्चरितानि) कुत्सित आचरण		९०
दुच्चिरिए (दुश्चरिते) कुत्सित आचरण		८७
दुण्णोओ (दुङ्गेयो) कठिनाई से जानने योग्य		८९
दुम्पोए (दुमोंकः) दुःख से छुड़ाने योग्य		१२४
दुवालसङ्हं (द्वादशार्ह) बारह अङ्ग-आगम		३६
दोक्खर (दुष्कर) कष्टसाध्य		९५
	घ	
धर्म (धर्म) धर्म		२५,४१
धुते (धूर्त) धूर्त		१२२
	न	
नायं (ज्ञातं) विदित		२६
नायादीएसुं (ज्ञातादिषु) ज्ञातादि में		५
निआण (निदान) किसी द्रष्टानुष्ठान की फल-प्राप्ति का सङ्कल्प-विशेष		१४०
णिक्कारण (निष्कारण) कारण रहित अहेतुक		६१
णिक्कमणे (निष्कमणे) निर्गमन		५७
निर्ज्ञूढाओ (निर्जूढः) उद्धृत, प्रम्यान्तर से अवतरित		६
निर्दओ (निर्दय) दयाहीन		
नियपञ्चभ (नियप्रत्यय) आत्मनिश्चय		१३५
णिवकहणा (नृपकथनात्) राजा के आदेश से		१०५
	प	
पंचमिया (पाञ्चमिका) पाँचवीं		४५,४९

पंथा (पन्थ) मार्ग, रास्ता	७३
पअत्य (पदार्थ) पदार्थ	१८
पग्सिय (प्रकाशित) प्रकट किया गया	१२५
पगह (प्रगहः) नियन्त्रक स्थान	१०
पच्चय (प्रत्यय) निश्चय	८२
पच्चागय (प्रत्यागत) वापस आया हुआ	९८
पच्चाजातीय (प्रत्याजाति) उत्पन्न, जन्म-ग्रहण	१२९
पज्जोए (प्रद्योत) उज्जविनी नगरी का राजा	९०
पड़िच्छणा (प्रतीक्षण) प्रतीक्षा	१०५
पड़िबंध (प्रतिबन्ध) रुकावट	१२६
पड़ियरेण (प्रतिचरेण) परिचर्या	९५
पड़िवज्जणा (प्रतिपादना) स्वीकार, कथन	१५
पड़िवज्ञीए (प्रतिपत्या) स्वीकार	१९
पड़िवन्नार्ण (प्रतिपन्नाना) अङ्गीकार करने वाले	६१
पड़िसेह (प्रतिषेध) निषेध, निवारण	८६, १०४
पढ़मसमोसरण (प्रथम समवसरण) वर्षाकाल, नियत वर्षावास क्षेत्र में प्रथम आगमन	५३
पणग (पञ्चक) पाँच का समूह	६७, १२२
पदाण (प्रदान) देना, वितरण	१०७
पन्नता (प्रङ्गप्ता) उपदिष्ट, निरूपित	४७
पञ्चारा (प्राग्भार) दशा-विशेष पुरुष की सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था	३
पयणुए (प्रतनु) सूक्ष्म, अल्प	१३
परिकहिया (परिकथिता) प्ररूपित, आख्यात	११३
परिचिअ (परिचित) ज्ञात, जाना हुआ	५१
परिण (परिणा) जानना	१०८
परियायवबत्यवणा (पर्यायव्यवस्थापना) प्रब्रज्या की अवधि	५२
परिवसणा (परिवसना) चार मास तक एक स्थान पर रहना	५३
पव्वयराती (पर्वतराजिः) पर्वत की दरार	९९
पवंचा (प्रवश्चा) मनुष्य की दस दशाओं में सातवीं दशा	३
पहू (प्रभुः) समर्थ	२८

पाईंण (प्राचीन) गोत्र-विशेष	१
पाठस (प्रावृष्ट) वर्षा	५७
पागइचा (प्राकटिता) व्यक्त होना	५८
पायप्पडीघाओ (पापप्रतिघातः) पाप का निवारण	८३
पुहुत्तेहि (पृथक्त्वैः) पृथक्त्व से	५६
पेस (प्रेष्य) भेजने योग्य	४३
पीसह (पोषध, पौषध) आहारादि के त्यागपूर्वक किया जाता व्रत-अनुष्ठान विशेष	४३

ब

बंधव (बान्धव) भ्राता, निकट सम्बन्धी	१२५
बंधा (बन्धाः) कर्म-बन्धन	१२५
बडला (दे) बैल	९२
बला (बला) मनुष्य की दस दशाओं में से चौथी अवस्था	३
बला (बलात्) जबरदस्ती	८१
बलितो (दे) अनुकूल	११२
बायाला (द्विचत्वारिशत्) बयालिस (४२)	४६
बाला (बाला) मनुष्य की दस अवस्थाओं में पहली दशा	३
बालाई (बालादि) बालादि	११७
बोडे (दे) भग्न,	१४
बोहण (बोधन) बोध, शिक्षा	९४

भ

भंडी (दे) गाढ़ी	९१
भक्तिमं (भक्तिमत्) भक्तियुक्त	१३३
भेरवाण (भेरवानां) सिंहादि पशुओं का भय	५०
भाउय (आतृ) भाई, बन्धु	९८
भाणग (भाणक) उद्घोषक	९१
भारियकम्मो (भारितकर्म) बलवान् कर्म	२१, ३०
भासणे (भीसणे) कथन, प्रतिपादन	८९
भीसण (भीषण) भयझर, भयजनक	९४
भाथेणमोह (भोजनमोचः) आहार-त्याग	८६

प

मंगल्ल (माङ्गल्य) मङ्गलकारी	११३
महल्ले (मलिने) मलिन	१२३
मग्गसिर (मार्गशिर) मास-विशेष, मार्गशीर्ष (अगहन) मास	६९
महईओ (महत्यः) अत्यन्त बड़ी	५
माइणो (मायिनः) मायावी, मायायुक्त	१२३
माणुम्माण (मानोन्मान) न्यूनाधिक परिमाण	१७
मासकल्प (मासकल्प) एकमास तक रहने का आचार	५९
मिंढ (मेढ़) मेंडा, मेष	१०१
मिग्गसीरे (मार्गशिरे) मार्गशीर्ष	६८
मुम्मुही (मुम्मुखी) मनुष्य की दस दशाओं में नवीं दशा	१६
मेइणि (मेदिनी) पृथिवी, धरती	८८
मेधावि (मेधाविन) बुद्धिमान, प्रश्न	५०
मोहुपासको (मोहोपासको) उपासक की एक कोटि	३४

र

रथणि (रजनि) रात्रि	४५
राई (राजिः) लकीर	१४, १९
रोहेण (रोधेन) नगर आदि का घेरा	५९
लक्षणोहिं (लक्षणैः) लक्षणों से	३, ४
लया (लता) बल्ली, बल्लरी	१०१
लाउयपाय (अलावूपात्र) तुम्बीपात्र	११६

व

वंसी (वंश) बौंस	१०१
वघारिअ (दे) प्रलम्बित	११४
वच्चए (व्रजेत) गमन करे, जाये	१३
वच्छल (वत्सल) स्नेही, स्नेहयुक्त	३१
वज्जाए (वर्जयेत) त्याग	४३
वणभेसज्जं (ब्रणभैषज्यं) घाव की औषधि	१०७
वत्तिकक्षम (व्यतिक्रमे) नियम-विरुद्ध आचरण	१२
वत्यव्यो (वास्तव्यः) निवासी	९६
वणण (वणाणां) खेतों की	१०३

वरण (वरक) सम्बन्ध माँगने वाले	१०४
वरिसेण (वरेण) वर्ष में	१००
वाओदयेण (वातोदकैः) हवा और जल से	९९
वागरणं (व्याकरणं) कथन, प्रतिपादन	१०९
वाह्याद्यम् (व्याह्याद्यते) बाह्यक दोनों ही	६०
वायणिसग्गो (वातनिसग्गो) उच्च स्वर करना	१०९
वासाकप्पो (वषाकिल्पः) वर्षावास के थोग्य	११६
वासाखेत्ता (वषाक्षेत्र) चातुर्मास क्षेत्र	६०
वासाणि (वर्षाणि) वर्ष तक	९३
वासावासं (वर्षावासं) चातुर्मास में एक स्थान में किया जाता निवास	६३
विआणओ (विश्वायको) ज्ञानी	२६
विआल (विकाल) दुर्भिक्ष आदि या सन्ध्या	१६
विगङ्गयं (विकृतिगतं) विकृति को प्राप्त	८६
विग्रहसभावं (विकृत स्वभाव) विकार स्वभाव वाली	८१
विणिवायं (विनिपातं) अधःपतन या विनाश	१४०
विरओ (विरतो) निवृत्त	१३३
विवर्द्धीय (विवर्द्धिक) बढ़ाने वाला	८०
वीससप्योग (विस्सप्रयोग) विस्साबन्ध और प्रयोगबन्ध	१३६
वोसिरणं (व्युत्सर्जन) परित्याग	७९
संगहपरिणा (संहग्रह परिणा) प्रतिमा-विशेष	२९
संगे (सङ्गे) कर्मबन्ध या आसक्ति	१२२
संघथणे (संहनने) संहनन के विषय में	५१
संपराये (सम्पराय) कषाय	१२३
संवच्छरिए (संबत्सरिके) वार्षिक	८७
संविग्न (संविग्न) संवेगयुक्त, मुक्ति का अभिलाषी	८६
संवेगकरणाणि (संवेगकरणाणि) मोक्ष के साधन	४१
संसक्त (संसक्त) जन्तु विशेष युक्त	७१
सबकतोसरणं (शक्रावसरणं) समवसरण	१०९
सज्जाएसणसोही (स्वाध्यायैषण शोधिः) स्वाध्याय और एषणा शुद्ध करने वाली	११६
सबल (शबल) कर्णुर, चितकबरा, दूषित चरित्र	१४

सबलत्त (शब्दलत्वं) शब्दलदोष	७
सभिंतर (साम्यन्तर) अभ्यन्तर	४८
सयगुणसहस्र (शतगुणसहस्र) सैकड़ों गुण वाले हजार	१०७
सयण (सदन) गृह	१२०
सयणी (शायनी, स्वापनी) मनुष्य की दस दशाओं में दसवीं	३
सरीर भविओ (शरीरभविकः) सांसारिक शरीर	२५
सल्ले (शल्य) पापानुष्ठान से लगने वाला कर्म	१२२
सावण (श्रावण) पास विशेष	६४
साहग (साथक) साथना करने वाला	६०
सिगय (सिकता) बालू, रेत	१००
सुहु (सुखु) अच्छा, शोभन, सुन्दर	६६
सुयसमाहिपडिमा (श्रुतसमाधिप्रतिमा) प्रतिमा-विशेष	४७
सेआ (श्रेयसी) श्रेयस्कर	१४०
सेलो (शैलः) पर्वतः	९९
सोडं (श्रोतुं) सुनने के लिए	१११
सोहम्मे (सौधम्मे) प्रथम देवलोक	१०९

ह

हस्तपादं (हस्तपादं) हाथ-पैर	१३३
हलिदा (हरिद्रा) औषधि-विशेष, हल्दी	१०१
हायणि (हायनी) मनुष्य की दस दशाओं में छठवीं अवस्था	३



सन्दर्भ ग्रन्थ- सूची

- अनुयोगदारसूत्र** : सं० मधुकरमुनि, जिनागम ग्रन्थमाला, सं० २८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८७।
- अर्थमागदी डिक्षानरी** : शतावधानी मुनि रत्नचन्द्र, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पुनर्मुद्रण १९८८।
- अष्टप्रामृत, कुल्यकुल्य** : अनु० राजीभाई उगान भाई देसाई, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला १०, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास १९६९।
- उत्तराध्ययनसूत्र** : सं. जे. शार्पेण्टायर, आर्काइव्ज औरिएण्टल्स, खण्ड १८, उपशाला १९२२।
- अंगपण्णसि, सुभवन्द** : हि० अनु० एवं सं० आर्यिका सुपार्खमती हीरक जयन्ती प्रकाशन पु० मा० ६५, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्युत्परिषद्, १९९०।
- कर्मशल स्टडी आन द निहीथयुर्गि** : डॉ० मधु सेन, पी०वी० सिरीज २१, पी०वी० रिसर्च इंस्टीच्यूट, वाराणसी १९७५।
- द कैनानिकल लिटरेचर आव द जैनाज्ञ** : प्रो० एच० आर० कापडिया, लेखक, सूरत १९४९।
- यद्वर्नमेष्ट कलेक्शन ऑव
मैनुस्क्रिप्ट्स, खण्ड १७, भाग-२** : प्रो० एच० आर० कापडिया, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९३६।
- गोमटसार (जीवकाण्ड)** : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये एवं पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, ज्ञानपीठ भूर्ति देवी जैन ग्र० मा० प्रा० ग्र० १४, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९७८।

- छन्दोङ्गुशासन, हेमधन्द**
- : सं० एच० ही० वेलणकर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९६१।
- छन्दोमउजरी, गङ्गावास**
- : व्याख्या० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा दुर्गापारती, प्र०ग्न० ३६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७८।
- जैन विद्या के विविध आयाम खण्ड - ५**
- : सम्पाद प्र०एस०एम० जैन एवं डॉ० अशोक कुमार सिंह, शेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता हीरक जयन्ती सङ्कोषी ग्रन्थ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९४।
- जैनागम साहित्य मनन और भीमांसा**
- : आचार्य देवेन्द्र मुनि, तारकगुरु जैन ग्रंथमा० सं० ७५, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७।
- जैन भाषा-वर्णन**
- : प्र०० सागरमल जैन, बी०एल०क्रमाङ्क ३, बी०एल० इंस्टीच्यूट ऑॅफ इण्डोलाजी, दिल्ली १९८६।
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२**
- : सं०क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमा० ४०, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली तृ०स० १९९२।
- जैन लक्षणावली, भाग-२**
- : सं० बालचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ग्रन्थमाला सं० १५, वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली १९७३।
- जिनरत्नकोश, खण्ड एक**
- : संग्रा० एच०ही० वेलणकर, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९४४।
- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - १**
- : पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० ७, वाराणसी द्वि०पुनर्म० १९८९।
- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - ३**
- : डॉ० मोहन लाल मेहता, सं० पं० दलसुख मालविण्या एवं डॉ० मेहता, पी०वी० ग्रंथमा० ५१, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वि०पुनर्म० १९८९।

- जैन आचार, सिद्धान्त और स्वरूप :** आचार्य देवेन्द्रमुनि, तारकगुरु जैन प्रन्थमाला २०६, तारकगुरु जैन प्रव्यालय, उदयपुर १९८२।
- द छाकिटून ऑव द जैनाज़** : डब्ल्यू० शुक्रिंग, अंये० अनु० बुलींग व्यूलेन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६२।
- तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति** : विवे० पं० सुखलाल संघवी, पी०वी० ग्र०मा० सं० २२, पार्खनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९८५।
- तत्त्वार्थवार्तिक, भट्ट अकलाङ्कदेव दो भाग** : सं० महेन्द्र कुमार जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन प्रन्थमाला (संस्कृत ग्रन्थाङ्क २०), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७।
- तत्त्वार्थाधिगमसूत्रांका, सिद्धसोनगणि, दो भाग** : सं० हीरालाल सेठ, ही०एल० जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सि०नं० ७६, बम्बई।
- तन्दुलवेष्यालिय पहण्यां** : अनु० हौ० सुभाष कोठारी, आगम संस्थान, ग्र०मा० ५, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर १९५९।
- दशाश्रुतस्कन्धसूर्णि, जिनदासगणि** : मणिविद्यज्ञ प्रन्थमाला, भावनगर १९५४।
- द निजुलिज आन द सीनियर्स ऑव द शेताम्बर सिद्धान्त** : डब्ल्यू०वी०बोली, फ्रैंज स्टेनर वर्लाङ्क, स्टुअर्ट १९९५।
- नियुक्तिसंहार** : सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन प्रन्थमाला १८९, लाखाबावल १९८९।
- निशिथसूत्रम् (भाष्य एवं चूर्णि सहित) :** सं० अमरमुनि, ग्र०मा० ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह।
- पञ्चकर्त्त्यसूत्र
खण्ड ९** : सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, 'आगम सुधा-सिन्दु' हर्षपुष्पामृत जैन प्रन्थमाला ग्र० ७६, लाखाबावल, (ग्र० वर्ष मुद्रित नहीं)।
- पहण्यसूत्राङ्क, दो खण्ड** : सं० मुनि पुण्य विजय, जैनागम प्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय बम्बई १९८४।

- पाहाड़-साह-महणवी** : पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० वा०श० अब्रवाल, पं० दलसुख भाई मालवणिया, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी सि०न० ७, अहमदाबाद द्वि०सं० १९६३।
- पुष्करमुनि अभिनन्दन राजा** : आजार्य देवेन्द्र पुरि इन्हें हॉ० एन०ही० छन्दग, राजस्थान के सरी आद्यात्म योगी पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, बम्बई, उदयपुर १९७९।
- प्रवृद्धनसारोद्धार नेमिकन्त सिद्धान्त** : दै०ता० जै०पु० फण्ड, ग्र० ८८, सूरत।
चक्रवर्ती, दो भाग,
- बृहद् हिन्दी कोश** : कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल, वाराणसी पञ्च.सं. १९८४।
- मूलाधार, बहुकेर** : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वि०सं० १९९२।
- रथण-सार, कुन्दकुन्द** : सं० डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली १९७३।
- तिशोकावशयकभाष्य, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** : दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद १९६२।
- त्यवहारभाष्य** : वा०प्र० गणाधिष्ठि तुलसी, सं० आचार्य महाप्रजा, सं० समर्णी कुसुम प्रज्ञा, जैन विश्वभारती संस्थान, लाहौर १९५६।
- शब्दरत्नमहोदयि, भाग २** : सङ्ग्रा० पं० मुक्तिविजय, संशो० गिरिजा प्रसाद दयाराम, विजयनीतिसूरि. वाचनालय, अहमदाबाद, १९४९।
- सभाष्टसर्वाधीयिगमसूत्र, स्वोपक्ष उमास्त्वाति** : हि० अनु० पं० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, रायचन्द्र जैन शास्त्रामाला, परमश्रुत प्रभावक जैनमण्डल, बम्बई १९३२।
- समराहचक्रहा, हरिभ्र, दो भाग** : हि०अनु० डॉ० रमेशचन्द्र जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी, जैन ग्र० माला २१, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९९३।

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद	: सं०प०फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्र०मा० (संस्क० १३), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६५।
संस्कृत इंग्लिश डिक्षानरी	: एम० विलियम्स, आवस्फोर्ड १८९९।
संस्कृत-हिन्दी-कोश	: वी०एस० आर्टे, नाग प्रकाशक, जयाहर नगर, दिल्ली पॉचवाँ पुनर्म० सं० १९९५।
हिन्दी औंव इण्डियन लिटरेचर	: खण्ड दो, कलकत्ता, १३३३।
श्रीणि छेदसूत्राणि	: सं० मधुकरमुनि, जिनागम ग्र० मा० ३२, आगम प्रकाशन समिति, द्वावर, १९९२।
शोध-जर्नल व पत्रिकायें :	
अभरभारती	: मासिक, वीरायतन, राजगिर।
इण्डियन हिन्दूरिक्षल वर्चार्टली	: सं० एन०एन०ला, रामानन्द विद्याभवन, कालिकाजी, नई दिल्ली पुर्नमुद्रण सं० १९८६।
जर्नल औंव द ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट	: ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट औंव दफ़ौदा, खण्ड २२, जून १९७३।
जिनवाणी	: मासिक, सुभ्यकज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर।
अमण	: फ्रैमासिक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

